# संत उद्बोधन

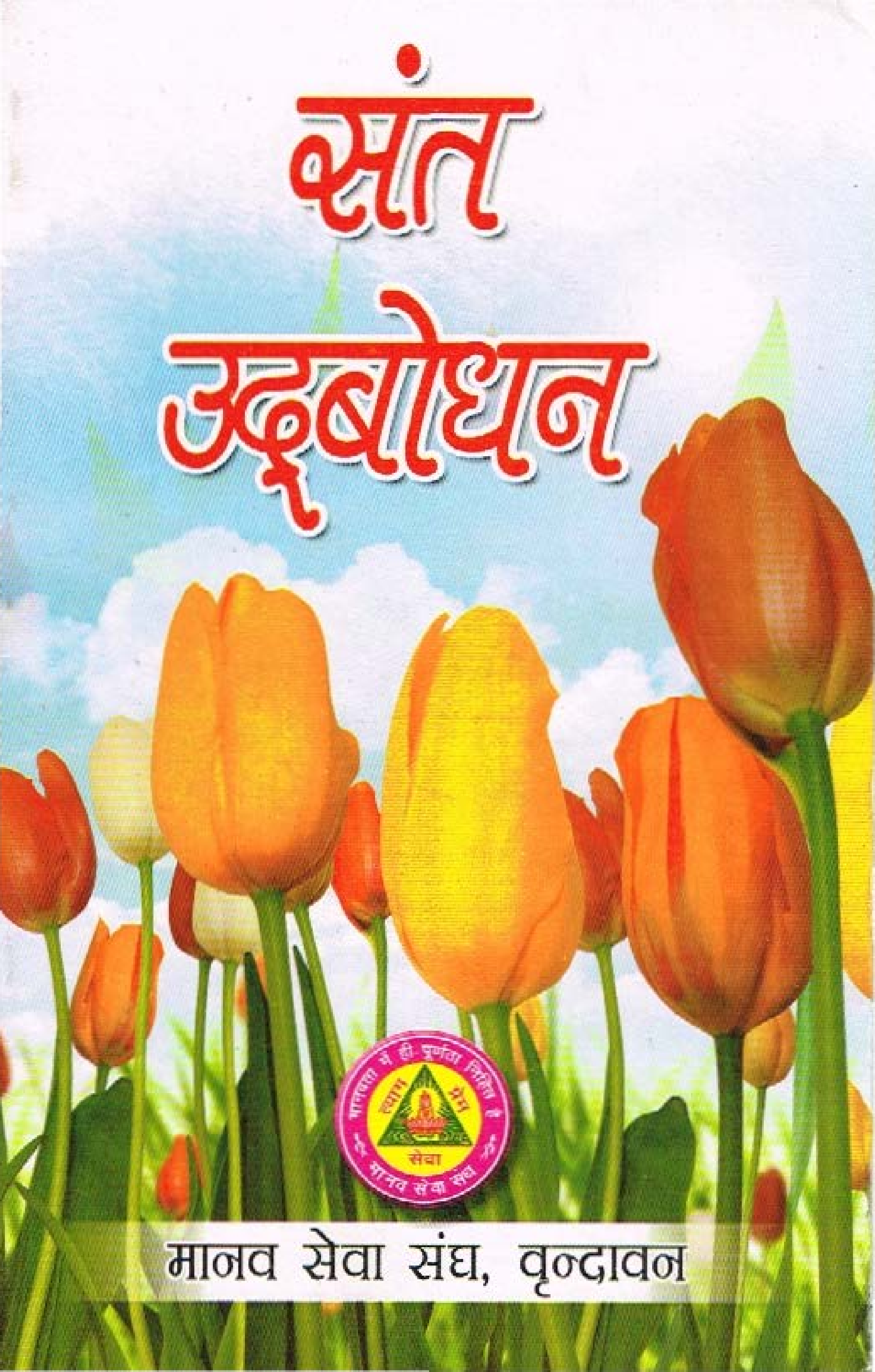

मानव सेवा संघ, वृन्दावन

# संत-उद्बोधन

मानव सेवा संघ के प्रवर्तक सन्त
ब्रह्मलीन् पूज्यवाद स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज
द्वारा समय-समय पर साधकों को दिये गये, प्रेरणाप्रद सन्देश

*प्रकाशक :*
**मानव सेवा संघ प्रकाशन**
वृन्दावन (मथुरा)-281 121

- *प्रकाशक :*
  **मानव सेवा संघ प्रकाशन**
  वृन्दावन, मथुरा (उ० प्र०)
  पिन–281 121



- सर्वाधिकार सुरक्षित



- द्वितीय संस्करण

- जनवरी 2014

- मूल्य रु० : 45.00

- मुद्रक :

  **पावन प्रिन्टर्स**
  मेरठ।

# प्राक्कथन

अनन्त ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर अपने में से मानव का निर्माण किया एवं साधन-सामग्री देकर उसे जगत् में भेजा है। निज-विवेक के प्रकाश में मानव अपने जाने हुए असत् का त्याग कर, अर्थात् सत्संगी होकर साधन-निष्ठ हो सकता है। हम सब की माँग सामर्थ्य, अमरत्व एवं रस से परिपूर्ण जीवन की है। यह माँग पूरी हो सकती है। परन्तु कब? जब मानव होने के नाते हम पर जो दायित्व है, उसे पूरा कर दें, तब! दायित्व पूर्ति की दिशा में साधक को किन-किन कठिनाइयों एवं बाधाओं का सामना करना पड़ता है, संघ के प्रणेता ने समय-समय पर साधकों को दिये अपने उद्बोधनों में उन सबका समाधान प्रस्तुत किया है।

पुस्तक 'संत-उद्बोधन' मानवता के मसीहा, परम कारुणिक, क्रान्त दृष्टा प्रातः स्मरणीय ब्रह्मलीन पूज्य स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज की अन्तर्व्यथा का प्रकटीकरण है, जो साधकों की जड़ता, पराधीनता एवं असफलता को देखकर उद्भूत हो उठती थी। साधकों की असफलता देखकर उनका नवनीत-कोमल हृदय रो-पड़ता और व्यथित हृदय से पुकारते-अरे प्यारे मानव! तेरी हर समस्या का समाधान तेरे पास है और तू बेबस खड़ा है! क्या तेरे पास विवेक रूपी आँखें नहीं हैं? क्या बल रूपी पैर नहीं हैं? क्यों नहीं तू अपने ज्ञान का आदर करके देखे हुए के प्रभाव से मुक्त हो जाता? क्यों नहीं बल के सदुपयोग के द्वारा मानव-समाज के काम आ जाता और क्यों नहीं अपने को सर्वसमर्थ के समर्पित करके निश्चिन्त, निर्भय और प्रसन्न हो जाता?

दृश्यमान जगत् की स्थूलता से लेकर अव्यक्त, अनन्त, चिन्मय, रसरूप जीवन तक की अलौकिक अनुभूतियाँ जो उस महामानव में अभिव्यक्त होतीं, उन्हें वे अपने प्रिय साधकों को उद्बोधन स्वरूप प्रदान करते और बड़ा ही सशक्त आश्वासन देते कि जो आनन्दमय जीवन मुझे मिला है वह प्रत्येक साधक को वर्तमान में ही अवश्य मिल सकता है।

सत्य की आवाज व्यक्ति पर गहरी छाप डालती है। आइये! हम और आप भी इन अद्वितीय 'उद्बोधनों' के प्रकाश में अपने जीवन को सफल बनाने के लिए कृत संकल्प हो जाएँ।

विजयदशमी — विनीता

1-10-1998 — **अर्पिता**

# प्रार्थना

**(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है।)**

मेरे नाथ!
आप अपनी,
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में,
त्याग का बल,
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में,
सेवा का बल,
प्रदान करें,
जिससे वे,
सुख-दुःख के,
बन्धन से,
मुक्त हो,
आपके पवित्र प्रेम का,
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जाएँ।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!! ॐ आनन्द!!!

# हरिः शरणम्

हरि: शरणम्, हरि: शरणम्, हरि: शरणम्, हरि: शरणम्।
हरि: शरणम्, हरि: शरणम्, हरि: शरणम्, हरि: शरणम्।
हरि: शरणम्, हरि: शरणम्, हरि: शरणम्, हरि: शरणम्।
हरि: शरणम्, हरि: शरणम्, हरि: शरणम्, हरि: शरणम्।
हरि: शरणम्, हरि: शरणम्, हरि: शरणम्, हरि: शरणम्।

# सर्वहितकारी कीर्तन

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
पीर हरो हरि, पीर हरो हरि, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।
पीर हरो हरि, पीर हरो हरि, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।

# संघ के ग्यारह नियम

मानव किसी आकृति-विशेष का नाम नहीं है। जो प्राणी अपनी निर्बलता एवं दोषों को देखने और उन्हें निवृत्त करने में तत्पर है, वही वास्तव में 'मानव' कहा जा सकता है।

1. आत्म-निरीक्षण अर्थात् प्राप्त-विवेक के प्रकाश में, अपने दोषों को देखना।
2. की हुई भूल को, पुनः न दोहराने का व्रत लेकर, सरल विश्वासपूर्वक, प्रार्थना करना।
3. विचार का प्रयोग अपने पर, और विश्वास का दूसरों पर अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।
4. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।
5. दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल, न मानना।
6. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी, पारिवारिक भावना के अनुरूप ही, पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी, स्नेह की एकता।
7. निकटवर्ती जन-समाज की, यथाशक्ति, क्रियात्मक रूप से, सेवा करना।
8. शारीरिक हित की दृष्टि से, आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।
9. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके, अपने को सुन्दर बनाना।
10. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को, अधिक महत्त्व देना।
11. व्यर्थ-चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

# साधकों को उद्‌बोधन

ब्रह्मलीन पूज्य श्री स्वामी जी महाराज द्वारा समय-समय पर साधकों को दिए गये प्रेरणाप्रद सन्देश

## (1)

**समस्त साधक महानुभाव!**

सेवा में सविनय निवेदन है कि साधक स्वरूप से अशरीरी ही है और सत्य को स्वीकार करना उसका स्वधर्म है। जगत् के प्रति सद्‌भाव और साध्य में अगाध प्रियता उसका जीवन है; जो हो रहा है, वह उसके प्यारे की लीला है।

सभी साधकों को बड़ी ही ईमानदारी से अकिंचन, अचाह तथा अप्रयत्न होकर, हरि-आश्रय पाकर चिर-विश्राम में नित्य-वास करना चाहिए। शरणागत विश्वासी साधक अपने सभी आत्मीयजनों को समर्थ के हाथों समर्पित करके, निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है। जिसे प्रभु-आश्रय मिल गया, वह अभय हो गया; सब कुछ पा गया। किसी भी विश्वासी शरणागत साधक को कभी भी अधीर नहीं होना चाहिये, कारण कि वह सनाथ है, अनाथ नहीं।

अनेक ममताएँ एक आत्मीयता में और अनेक कामनाएँ प्रियता की माँग में विलीन हो जाती हैं और फिर साधक साध्य की प्रियता पा जाता है-यह जीवन का सत्य है, जिसे अपना लेने पर वह सर्वदा ही सर्वसमर्थ की गोद में है।

चलते-फिरते, उठते-बैठते, सहज भाव से 'हे हृदयेश्वर! हे सर्वेश्वर! हे प्राणेश्वर! हे परमेश्वर!'' सभी के हित के लिए पुकारना चाहिये। यह पुकार साधक को अशरीरी होने की सामर्थ्य प्रदान करती है। फिर वह अपने ही में अपने प्रियतम को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। अपना सदैव अपने ही में है, उससे कभी भी वियोग नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि प्रियता एक ऐसा अलौकिक तत्त्व है कि योग में वियोग, वियोग में योग का भास कराती है। साधक का दृश्य-मात्र से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है; कारण कि वह अपने में ही अपने प्रेमास्पद को पा गया है। इसी सद्‌भावना के साथ!

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (2)

**साधक महानुभाव!**

कुछ नहीं चाहने से ही मोक्ष मिलता है। चाहना ही बन्धन होता है। अगर मालूम होता है कि मेरा कुछ है, मुझे कुछ चाहिए, तो बस बँध गए। अगर तुम्हें यह अनुभव हो जाए कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, बस मुक्त हो गये। अगर आपको ये मालूम होता है कि संसार में मेरा कुछ है और संसार से मुझे कुछ चाहिए, तो यह बन्धन हो गया और इसके विपरीत मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, तो मुक्ति हो गई। भगवान् मेरे हैं तो भक्ति हो गई।

जो होती है, उसको मुक्ति थोड़े ही कहते हैं, जो है, उसे मुक्ति कहते हैं। बन्धन बनाने की सामर्थ्य आप ही में है और मुक्त होने की सामर्थ्य भी आप में ही है। ममता हट गई, कामना हट गई, तादात्म्य टूट गया; बन्धन टूट गया।

अपनी वर्तमान दशा से परिचित हो जाइए और अपनी जरूरत से परिचित हो जाइए, फिर साधन से परिचित हो जाइए। आप दशा से परिचित होते नहीं, जरूरत से परिचित होते नहीं, साधन से परिचित होना चाहते हैं। जो साधन आपकी जरूरत के अनुसार नहीं होगा, जो जरूरत आपकी मौजूदा दशा में से नहीं निकलेगी वह ठहरेगी कैसे आपके जीवन में! प्यासे आदमी को पानी की बात सुनने को मिले तो वह फौरन पकड़ लेता है; क्योंकि प्यास लगी है, उसे जरूरत है। पहले आप अपनी मौजूदा हालत देखिए, क्या है? फिर अपनी ज़रूरत देखिए क्या है? फिर उपाय पूछिए अपनी जरूरत को सामने रखकर, तो जरूरत का अनुभव होना ही, एक बहुत बड़ा उपाय हो जायेगा।

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (3)

**साधक महानुभाव!**

"मेरा कुछ नहीं है"-इस बात का ज्ञानपूर्वक अनुभव करना चाहिए "मुझे कुछ नहीं चाहिए"-यह अपने द्वारा निर्णय करना चाहिए। "प्रभु अपने हैं"-यह आस्थापूर्वक स्वीकार करना चाहिए। "सब कुछ प्रभु का है"-यह मान लेना चाहिए। "मेरा कुछ नहीं है", यह ठीक-ठीक अनुभव करें, क्योंकि संसार में व्यक्तिगत वस्तु कुछ है नहीं। हमसे गलती यह होती है कि

सार्वभौमिक वस्तु को व्यक्तिगत मान लेते हैं। तो सर्वप्रथम यह भूल मिटानी चाहिए। फिर मुझे संसार से कुछ नहीं चाहिए, क्योंकि मुझको जो चाहिए वह मुझमें है-यह आस्था है। और मुझे जो चाहिए वह संसार में नहीं है-यह अनुभव है। आपको जो कुछ चाहिए उसकी पूर्ति सारा संसार मिलकर भी नहीं कर सकता। आप इतने समर्थ हों कि उदार होकर संसार के काम आ सकते हैं। पर संसार सारी शक्ति लगाकर आपको अमर जीवन नहीं दे सकता, स्वाधीन जीवन नहीं दे सकता।

सत्य को स्वीकार करने से असाधन का नाश होता है और साधन की अभिव्यक्ति होती है। जब साधक में स्वयं साधन की अभिव्यक्ति हो जाती है, तो साधन और जीवन एक हो जाता है। तो जीवन का सत्य क्या है? संसार से आप जो चाहें, वह आपको नहीं दे सकता। पर संसार जो चाहे, वह आप उसे दे सकते हैं। इस बात पर बहुत अच्छी तरह से मनन करना चाहिए। तो पहिले अपना मूल्य संसार से अधिक बढ़ाओ, आप अचाह हो जाएँगे। जब अचाह हो जाएँगे, तो अप्रयत्न हो जाएँगे। अप्रयत्न हो जाएँगे तो शरीर का तार टूट जाएगा। जब शरीर का तार टूट जाएगा, तो परमात्मा मिल जाएगा।

आपकी मनुष्य संज्ञा इसलिए है कि आप में तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं। जानने की शक्ति आप में है, मानने की शक्ति आप में है और करने की शक्ति आप में है। अब आप करने की शक्ति द्वारा अपना लाभ उठाना चाहते हैं जो दूसरों के लिए है; और जानने की शक्ति से दूसरों की भूल मिटाना चाहते हैं जो कि अपनी भूल मिटाने के लिए है। मानने का काम परमात्मा के लिए है, वह जाने किसके साथ लगा दिया है। चाहिए यह कि करने की शक्ति का उपयोग दूसरों की सेवा में करो, जानने की शक्ति का उपयोग अपने लिए करो और मानने की शक्ति का उपयोग परमात्मा के साथ कर दो, तो सांगोपांग साधन बन जाएगा।

परमात्मा को जानना चाहिए या मानना चाहिए?

परमात्मा माना जाता है, जाना नहीं जाता। माना हुआ वह परमात्मा माना हुआ नहीं रहता, प्राप्त हो जाता है। जो बात आपके वश की न हो, तो भगवान् से माँग लो, वे देंगे। हमने सुना है, माना है कि भगवान् परम उदार हैं, परम स्वतन्त्र हैं, वे परम प्रेम की निधि हैं। आप यह भी विचार करके देखो कि जब उदार होंगे, तभी काम बनेगा, स्वतन्त्र होंगे, तभी काम बनेगा, प्रेम से परिपूर्ण होंगे, तभी काम बनेगा।

परमात्मा को लोग साधनरूप करके मानते हैं, साध्य करके नहीं। वे कहते हैं कि परमात्मा समर्थ हैं, हमारी कामना अवश्य पूरी कर देंगे। यही सबसे बड़ी भूल है। आप कामना छोड़ दें, तो परमात्मा साध्य हो जाये।

यदि अचाह होने का व्रत आप ले लें, तो आवश्यक कामनाएँ पूरी होकर नाश हो जाएँ और अनावश्यक उत्पन्न ही न हों। तो जब आवश्यक कामना पूरी होगी तो कामना पूर्ति का क्या मजा है-वह आपको मालूम हो जाएगा। और जब अनावश्यक कामनाएँ नाश हो जाएँगी तो कामना निवृत्ति में क्या सुख है-वह मालूम हो जाएगा। इस प्रकार कामना पूर्ति का सुख भी आप अनुभव कर सकते हैं और कामना-निवृत्ति की शांति भी आप अनुभव कर सकते हैं।

शांति से असंग होकर आप मुक्ति का आनन्द ले सकते हैं और मुक्ति से मुक्त होकर भक्ति का आनन्द भी आप ले सकते हैं। इतना आनन्द आपको मिल सकता है।

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (3 क)

**साधक महानुभाव!**

जीवन के दो पहलू हुए-एक भोग और एक योग। किन्तु करने में जीवन नहीं है, यदि करने में जीवन होता, तो सभी को नहीं मिल सकता था। क्योंकि करने में दो व्यक्ति भी कभी समान नहीं हैं। श्रम और विश्राम जीवन के दो पहलू हैं। श्रम है संसार के लिए और विश्राम है अपने लिए। जब कोई काम करने चलो, तो यह मानकर मत चलो कि मुझे क्या लाभ होगा? बल्कि यह सोचकर चलो कि इससे परिवार को क्या लाभ होगा, संसार को क्या लाभ होगा। बल का जब उपयोग करो तो इस बात को सामने रखो कि किसी दूसरे को उससे हानि तो नहीं होतीं। यदि हानि है तो वह नहीं करूँगा। तो दूसरों के हित के लिए काम करो, उसको कहते हैं श्रम और अपने लिए विश्राम करो। विश्राम में अमर जीवन है, विश्राम में स्वाधीन जीवन है, विश्राम में सरस जीवन है। भोग योनियों में श्रम के अतिरिक्त विश्राम है ही नहीं, पर मनुष्य योनि में सेवा और योग है। विश्राम का अर्थ होता है-काम-रहित होना। विश्राम सहज है, स्वाभाविक है। सभी के लिए समान रूप से सम्भव है।

सेवा करो, संसार के काम आ जाओ और योग करो, अपने काम आ जाओ। सेवा का फल, कर्त्तव्य का फल ही योग है। सही काम करने से मनुष्य

काम-रहित हो जाता है। काम-रहित होने से योग की प्राप्ति होती है। योग की पूर्णता में बोध और प्रेम है। इसीलिए दो बातें ज्ञानपूर्वक अनुभव करो-"मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए।" दृढ़ता से विश्वासपूर्वक स्वीकार करो कि "प्रभु अपने हैं, सब कुछ प्रभु का है।" अब संसार के और अपने बीच में जो सम्भव है, वह करो। बस, केवल बुराई मत करो। जो नहीं कर सकते हो, उसे करने की सोचो मत और जो नहीं करना चाहिए, उसे करो मत। जो कर सकते हो, उसे जमा मत रखो, कर डालो। उसके अन्त में आपको योग की प्राप्ति हो जाएगी।

संकल्प-विकल्प तो उठते ही हैं। तुम्हारे न चाहने पर भी उठते हैं, इसलिए कि आप संकल्प-पूर्ति का सुख भोगते हैं, संकल्प अपूर्ति से दुःखी होते हैं। इसलिए विकल्प उठते हैं। यदि संकल्प-पूर्ति का सुख न भोगो, अपूर्ति से दुःखी न हो, निःसंकल्प-निर्विकल्प हो जाओ, तो संकल्प-विकल्प उठना बन्द हो जायेंगे। वे तो हमारी किसी क्रिया का परिणाम हैं, वे कोई नई प्रवृत्ति नहीं हैं।

भोग जब आप करते हैं, तो भोगे हुए का प्रभाव मन पर अंकित हो जाता है, उसका संस्कार जमता है और जब आप शान्त होते हैं, तब वही प्रकट होता है। वह प्रकट होता है नाश होने के लिए, वह नया कर्म नहीं है। आपके भोजन कर लेने के बाद जैसे आपका भोजन बिना जाने और बिना कुछ किए पचता है। तो एक होता है 'करना- और एक होता है 'होना'। होना जो होता है वह प्राकृतिक शक्तियों के द्वारा होता है, 'करना' जो होता है वह अपने अभिमान के द्वारा होता है। तो होने वाली बात को कर्म मत मानो, वह कर्म नहीं है। अगर उससे असहयोग कर लोगे, तो उसका प्रभाव अपने आप नाश हो जायेगा।

संसार से सम्बन्ध है सेवा करने के लिए और परमात्मा से सम्बन्ध है प्रेम करने के लिए। न संसार से कुछ चाहिए, न परमात्मा से कुछ चाहिए। तो सम्बन्ध के अनुसार संसार की सेवा करो, परमात्मा के प्रेमी बनो। पर न कुछ संसार से चाहो, न कुछ परमात्मा से माँगो। तो इस प्रकार संकल्प उठने बंद हो जायेंगे। संकल्प तो भुक्त इच्छाओं का प्रभाव है और पहले जो भोग कर चुके हैं, उसी के प्रभाव से उठता है। यदि एक संकल्प पूरा हो गया और उसका सुख भोगा, तो उसी के प्रभाव से दूसरा संकल्प उठेगा। संकल्पपूर्ति का सुख ही नवीन संकल्प को जन्म देता है। यदि हम संकल्प-पूर्ति का सुख पसन्द करते रहेंगे, तो एक के बाद एक नवीन संकल्प उत्पन्न होता ही रहेगा और अभाव ही अभाव पल्ले पड़ेगा। तो संकल्प-पूर्ति का सुख मत भोगो व

संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में रमण मत करो। बस, तब जीवन-मुक्ति प्राप्ति हो जाएगी। फिर संकल्प-अपूर्ति का दु:ख भी नहीं होगा, क्योंकि संकल्प-पूर्ति का सुख भोगोगे, तो ही संकल्प-अपूर्ति का दु:ख होगा।

आज तक विश्व के इतिहास में क्या किसी के सभी संकल्प पूरे हुए हैं? कभी नहीं हुए। इसलिए जो संकल्प आपकी मर्जी के बिना उत्पन्न हुआ है, उसका समर्थन मत करो। उससे आपकी निर्विकल्पता बिगड़ नहीं जाएगी। कोई संकल्प उत्पन्न हुआ है, उसे आप चाहते नहीं हैं। संकल्प तो किसी वस्तु का संकेत है। वह स्वत: वस्तु नहीं है। अत: आपके किसी पुराने इतिहास का परिचय है संकल्प, या नवीन कार्यक्रम की सूचना है संकल्प, या किए हुए की स्मृति है संकल्प। संकल्प का उठना बन्द हो जाये, सो आपके वश की बात नहीं है। संकल्प उठना बन्द नहीं हो सकते, पर उनसे सम्बन्ध तोड़ना चाहिए। संकल्प अच्छे भी उठते हैं, बुरे भी उठते हैं।

ज्ञान और सामर्थ्य के अनुसार जो संकल्प उठे, उसे पूरा करके खत्म कर दो। संकल्प वह पूरा करना है जिसमें दूसरों का हित है। उसी को कर्त्तव्य कहते हैं। जो संकल्प कभी पूरा न हो, बार-बार उठे वह ज्ञान-विरोधी है, सामर्थ्य-विरोधी है। अत: उसका त्याग कर दो। इस प्रकार आप निर्विकल्प हो जाएँगे।

सेवा, त्याग और प्रेम तीनों इकट्ठे हो गए, भजन हो गया। भजन में सेवा भी है, त्याग भी है और प्रेम भी है। ध्यान क्या है? जिसकी जरूरत होती है, उसका ध्यान अपने आप होता है। कर्म से सेवा करो, अचाह होकर त्याग करो, भगवान् को अपना मानकर प्रेमी हो जाओ-भजन हो गया। भगवान् को जब तक अपना नहीं मानोगे, तब तक भगवान् प्यारा लगेगा नहीं और भगवान् जब तक प्यारा लगेगा नहीं, तब तक उसकी याद आयेगी नहीं और जब तक याद नहीं आएगी, तब तक भजन होगा नहीं।

प्रभु की महिमा स्वीकार करो, स्तुति हो गई। प्रभु से सम्बन्ध स्वीकार करो, उपासना हो गई। प्रभु के प्रेम की आवश्यकता अनुभव करो, प्रार्थना हो गई।

मनुष्य में तीन बातें होती हैं-भोग की वृत्ति होती है, जिज्ञासा होती है और भगवद्-प्राप्ति की लालसा होती है। तो भोग की वृत्ति का त्याग कर दो, जिज्ञासा पूरी हो जाएगी और भगवद्-प्राप्ति की लालसा उदय हो जाएगी।

अकिंचन-

शरणानन्द

## (4)

**साधक महानुभाव!**

हमें देखना चाहिए कि हमारा सम्बन्ध हमारी ओर से किसके साथ है? परमात्मा के साथ है या जगत् के साथ है; अच्छाई के साथ है या बुराई के साथ है? इसको क्या पसंद आता है? अगर हमको परमात्मा का सम्बन्ध अच्छा लगता है, तो संसार का सम्बन्ध अपने आप ही टूट जायेगा। अगर संसार का सम्बन्ध हमने तोड़ दिया है, तो परमात्मा से सम्बन्ध अपने आप हो जायेगा। तो आपके और परमात्मा के बीच संसार पर्दा नहीं है, उससे सम्बन्ध पर्दा है।

माँग तीन प्रकार से हो सकती है—कामना को लेकर, लालसा को लेकर और जिज्ञासा को लेकर। भोग की कामना, सत्य की जिज्ञासा, और ब्रह्म की लालसा। 'जिज्ञासा' कहते हैं, जानने की इच्छा। लालसा कहते हैं, पाने की इच्छा। और कामना कहते हैं, भोग की इच्छा। तो यह भोग की कामना, सत्य की जिज्ञासा और परमात्मा की लालसा-ये तीनों लक्षण जिसमें रहते हैं उसे हम 'मैं' कहते हैं। इन तीनों में जो कामना है, वह तो भूल से उत्पन्न होती है। और जिज्ञासा एवं लालसा स्वभाव से उत्पन्न हैं। जो भूल से उत्पन्न होती है उसकी तो निवृत्ति हो जाती है और जो स्वभाव से उत्पन्न होती है, उसकी पूर्ति हो जाती है एवं लालसा की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए कामना की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और परमात्मा की प्राप्ति मनुष्य को ही हो सकती है।

प्रेम करने का तरीका आज तक संसार में कोई बतला नहीं सका, और निकला भी नहीं है। तरीके से प्रेम नहीं हुआ करता, क्योंकि प्रेम का तरीका होता, तो जो काम तरीके से हो सकता है वह मशीन से भी हो सकता है। तब तो आज के वैज्ञानिक युग में प्रेम प्राप्त करने की मशीनें भी बन जातीं। तो प्रेम करने का कोई तरीका नहीं है, पर प्रेम करना सबको आता है। जीवन में एक अनुभव की बात यह है कि हम जिसको अपना लेते हैं वह प्यारा लगता है और हम उसे अपना सब कुछ देने को तैयार हो जाते हैं। परमात्मा अपना है, उसे अपना बना लें, तो वह वह प्यारा लगता है। जब परमात्मा प्यारा लगता है, तो उस पर सर्वस्व अर्पण कर देते हैं। ईश्वर को हम अपना दिल दे बैठें, तो फिर हमारे पास अपना क्या रह जायेगा? मनुष्य के पास जब उसका दिल न रहे, तो वह भक्त हो जाये, मुक्त हो जाए और शांति पा जाए।

बातें करने को तो बहुत बातें हो सकती हैं। परन्तु आप बातें करने के साथ सोचो भी, विचारो भी और जीवन में अनुभव भी करो। आप सुनना और सीखना बंद करें और जानना और मानना प्रारम्भ करें, तो काम बना जाएगा।

जानने के स्थान पर–"मेरा कुछ नहीं है"–इसके सिवाय और कुछ नहीं जानना है। और मानने के स्थान पर सिवाय परमात्मा के और कोई मानने में आता नहीं है।

जब तक तुम बुरे नहीं होते, बुराई नहीं पैदा होती। मन में कोई विकृति नहीं है। ईश्वर में, मन में कोई खराबी होती ही नहीं है। अपनी खराबी ठीक करो, मन ठीक हो जायेगा। तुम किसी को बुरा मत समझो, मन में बुरी बात कभी नहीं आएगी। तुम किसी का बुरा मत चाहो, मन में बुरी बात कभी नहीं आएगी। तुम किसी के साथ बुराई मत करो, मन में बुरी बात कभी नहीं आएगी। हमारी भूल हमें मन में दिखती है। भूल हम करते हैं और नाम मन का रख देते हैं। बुराई करने वाला खुद दु:खी होता है और दूसरों को भी दु:खी करता है।

अपने को बुरा मानोगे, तो बुराई करोगे। अपने को भला मानोगे, तो भलाई करोगे। और भला–बुरा कुछ नहीं मानोगे, तो परमात्मा में रहोगे।

अच्छाई और बुराई जब दोनों होती हैं, तब तो बनता है अहम्; परिच्छिन्नता बनती है और जब बुराई बिल्कुल नहीं रही, अच्छा ही अच्छा रह जाता है, तो अहम् का नाश हो जाता है। द्वन्द्व में अहम् बनता है, द्वन्द्वातीत में अहम् नहीं बनता। मनुष्य सर्वांश में बुरा नहीं हो सकता, पर सर्वांश में भला हो सकता है।

गुरु वाणी से जो सुना, उसे मान लिया; वह निदिध्यासन हो गया।

जिसके करने की सामर्थ्य प्राप्त हो, जिसमें किसी का अहित न हो, जिसके बिना करे नहीं रह सकते हो और जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो–ऐसा काम ही जरूरी होता है।

किसी चीज की प्राप्ति के पहले उसकी आवश्यकता अनुभव होती है। अगर आप समाधि की आवश्यकता अनुभव करेंगे, तो भोग की वृत्ति नाश हो जायेगी, समाधि प्राप्त हो जायेगी। योग में भोग की रुचि ही बाधक है। आप योग की आवश्यकता अनुभव करें, योग मिल जाएगा।

ध्यान लगाने की बात, समाधि लगाने की बात तो आप करते हैं, पर ध्यान किसका होगा? जिसकी आवश्यकता आप अनुभव करोगे। जिसकी स्मृति जगेगी, उसका ध्यान होगा। स्मृति उसकी जगेगी जिसको आप अपना मानोगे। तो एकदम ध्यान कैसे कर लोगे? पहले तो यह देखो कि जिसका आप ध्यान करना चाहते हैं, वह आपका अपना है या नहीं, वह अभी है या नहीं?

ध्यान किसका करना है? ध्यान किसी का नहीं करना है। किसी का ध्यान नहीं करोगे, तो परमात्मा का ध्यान हो जाएगा। और किसी का ध्यान करोगे, तो वह फिर किसी और का ही ध्यान-मात्र रह जाएगा।

आप लोग जीवन से बिल्कुल अलग हो करके सोचते हो। अपनी वर्तमान दशा का ठीक अनुभव करो। आपकी वर्तमान दशा क्या है? आपकी माँग क्या है? आपकी जिम्मेदारी क्या है? इत्यादि बातों पर विचार करने पर ही साधना होती है।

संसार कभी आपसे नहीं कहता कि मुझे पसन्द करो, तुम्हीं पसन्द करते हो। संसार की किसी वस्तु ने कभी कहा है कि मैं तुम्हारी हूँ? तुम्हारे मकान ने कहा हो, तुम्हारी जेब के पैसों ने कहा हो, तुम्हारे हाथ ने कहा हो, तुम्हारी इन्द्रियों ने कहा हो। तुम्हारे शरीर से लेकर संसार की जितनी भी चीजें हैं, उनमें से किसने कहा है कि मैं तुम्हारी हूँ? तुम बिना वजह 'अपना-अपना' गीत गाते हो। कहते हो 'मेरा मन', 'मेरा हाथ' आदि।

जानी हुई बुराई करो मत और जो बुराई कर चुके हो, उसे दोहराओ मत। तो आगे बढ़ जाओगे।

आदमी अपनी जगह पर ठीक बना रहे। तुम जो जानते हो, सो मानते रहो। जो मानते हो, सो करते रहो। तो तुम्हारी सारी जरूरतें अपने आप पूरी होंगी। आपको जो करना चाहिये, आप जो कर सकते हैं, उसको कीजिए। बस, फिर सारी बातें अपने-आप पूरी हो जायेंगी।

जो व्यक्ति कुछ भी जानना चाहता है, उसने गुरु मान लिया और जो व्यक्ति कुछ भी करना चाहता है, उसने धर्म मान लिया और जिसे अपने से कोई भी बड़ा दिखता है, उसने ईश्वर मान लिया। जीवन में ये तीन ऐसे सत्य हैं कि हर एक आदमी किसी-न-किसी रूप में इन्हें मान ही लेता है।

जगत् की उदारता, प्रभु की कृपालुता और सत्पुरुषों की सद्भावना-ये प्रत्येक साधक के साथ सदैव रहती हैं।

यह जीवन का सत्य है कि आप अपने विरोधी मत बनिये, तो कोई आपका विरोधी नहीं होगा। आप अपनी जगह पर ठीक बने रहें, तो गुरु भी हमारे साथ, प्रभु भी हमारे साथ और संसार भी हमारे साथ। कोई आपका विरोधी नहीं है, सब आपके अनुकूल हैं। आप अपने विरोधी मत बनिए।

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (5)

**साधक महानुभाव!**

एकान्त का पूरा लाभ तब होता है जब हमारा सम्बन्ध एक ही से रह जाये। अनेक सम्बन्ध लेकर एकान्त में जाते हैं तो उतना लाभ नहीं होता, जितना होना चाहिए। हमारे सम्बन्ध पहले बदलने चाहिएँ। एक से रहें, अनेक से नहीं। संसार परमात्मा की प्राप्ति में बाधक नहीं है, बल्कि सहायक है। उसका जो हम सम्बन्ध स्वीकार करते हैं वही बाधक है। परमात्मा कहाँ है, कैसा है, क्या है-इसके पीछे न पड़ते हुए 'परमात्मा है', यह मान लेना चाहिए। इससे बहुत लाभ होता है।

अपनी भूल को जान लेने से भी बड़ा लाभ होता है। क्योंकि भूल को जानने से वेदना होती है और वेदना से भूल नाश होती है और भूल-रहित होने से अपना हित होता है।

यह जीवन का सत्य है कि हमारी ओर से सम्बन्ध एक से होना चाहिए, अनेक से नहीं और उसी एक के नाते, अनेक की सेवा होनी चाहिए। इससे प्रत्येक कर्म पूजा बन जायेगा, भजन होने लग जायेगा और परमात्मा की समीपता का, एकता का, अभिन्नता का बोध हो जायेगा।

मौन का अर्थ खाली चुप होना नहीं है, बल्कि न सोचना भी है, न देखना भी है अपनी ओर से। मुझ जो चाहिए सो तो मुझमें है, फिर इन्द्रियों की क्या अपेक्षा? मौन के पीछे एक दर्शन है कि हमको जो चाहिए वह अपने में है, अपना है और अभी है। यही सर्वश्रेष्ठ परमात्मवाद है। भगवान् की महिमा का कोई वारापार नहीं है। पसन्द भर करना हमारा काम है; बाकी तो भगवान् की अहैतुकी कृपा सारा काम स्वत: कर देती है।

मेरा कुछ नहीं है, यह जानने की बात है और बुराई-रहित होना, यह धर्म है, धारण करने की बात है। तो धर्म को धारण करो, भूल-रहित हो जाओ और परमात्मा को मान लो। आपका जीवन कल्याणमय हो जायेगा।

अत: मौन का तात्पर्य हुआ-बुराई-रहित होना। यह बाहरी मौन धर्म के क्षेत्र का मौन हो गया। भूल-रहित होना, यह उससे सूक्ष्म हो गया और परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना, यह आन्तरिक हो गया।

भगवान् की दृष्टि से हम कभी ओझल नहीं हैं, उनकी सत्ता से हम कभी बाहर नहीं हैं। हम भगवान् की महिमा स्वीकार नहीं करते, उनके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, तो उससे भगवान् हमको दूर मालूम होते हैं। अगर हम उनकी महिमा स्वीकार करें, उनके अस्तित्व को स्वीकार करें, उनके

सम्बन्ध को स्वीकार करें, तो भगवान् दूर नहीं हैं। भगवान् के अस्तित्व को स्वीकार करना ही तो आस्तिकता है और महत्त्व को स्वीकार करना ही भगवान् की स्तुति है और भगवान् के सम्बन्ध को स्वीकार करना ही उपासना है। भगवान् के अस्तित्व को, महत्त्व को और सम्बन्ध को स्वीकार करना अपना काम है और उस स्वीकृति को सजीव कर देना, यह प्रभु का काम है। जब हम अपना काम ठीक कर देते हैं तो प्रभु का काम ठीक होता रहता है, इसमें कमी होती नहीं है। ज्ञान के द्वारा हमारे और परमात्मा के बीच की दूरी और भेद मिटता है और विश्वास के द्वारा एकता होती है। परन्तु हम प्रभु में विश्वास करते नहीं, प्रभु से सम्बन्ध हम जोड़ते नहीं और चिन्तन करते हैं। वह चिन्तन भी बलपूर्वक करते हैं। चिन्तन शब्द का अर्थ है-जो अपने आप होने लगे। जब हम शान्त बैठते हैं तो अपने आप चिन्तन होने लगता है। यह संसार का चिन्तन होता है, क्योंकि हमने संसार से सम्बन्ध जोड़ा था। उस वक्त आपको इतनी सजगता होनी चाहिए कि अब तो हमने प्रभु के ही अस्तित्व को स्वीकार किया है, प्रभु के ही महत्त्व को स्वीकार किया है। आप अपनी स्वीकृति पर दृढ़ रहिये, तो चिन्तन अपने आप समाप्त हो जायेगा और स्मृति जाग्रत हो जायेगी। यह जो स्मृति है, यह भगवद्-चिन्तन है। जैसे आज हम देखते हैं कि हमारे न चाहते हुए भी, हमारे न करने पर भी जीवन में विषय चिन्तन दिखाई दे रहा है, ऐसे ही आपके द्वारा स्वत: भगवद्-स्मृति की भी जागृति हो जायेगी और जब स्मृति जाग्रत हो जायेगी, तो प्रेम और प्राप्ति-ये स्मृति के रूप हैं। तो भगवद्-प्राप्ति अत्यन्त सुलभ है, सम्भव है।

अपने द्वारा होने वाली बात को अगर आप पूरा कर दें, तो आपको भगवद्-साक्षात्कार होने में कोई कठिनाई नहीं होगी, लेकिन दु:ख की बात तो यह है कि जो हम अपने द्वारा कर सकते हैं, उसको नहीं करते और जो शरीर के द्वारा कर सकते हैं, उसी को करने की कोशिश करते हैं। प्रश्न यह है कि हम अपने द्वारा क्या कर सकते हैं? बहुत साधारण, पर बड़ी काम की बात है। जिस मौन साधना को आप बलपूर्वक करते हैं, तो आप सोचिये कि क्या अपने द्वारा आप बिना शरीर के बोल सकते हैं? तो मौन हो जाना चाहिये? या मौन रहना चाहिए? अपने द्वारा तो कोई चीज हम कर ही नहीं सकते, जैसे परमात्मा के अस्तित्व को हम अपने द्वारा स्वीकार कर सकते हैं। उसमें बल-बुद्धि की जरूरत होती, यदि वह बुद्धि की सीमा में आया होता। विश्वास से जो चीज सिद्ध होती है, उसमें बुद्धि का क्या उपयोग है? जो चीज स्वत: सिद्ध है, उसमें बल का क्या उपयोग है?

## (6)

**सत्संग-प्रेमी महानुभाव!**

संघ की नीति के अनुसार दैनिक सत्संग में पुस्तक का पाठ नहीं करना चाहिए। सभी का एक संकल्प होने पर यदि किसी ग्रन्थ-विशेष की कथा की जाय, तो उसे श्रद्धापूर्वक श्रवण करना चाहिए। परन्तु सत्संग के बिना मानव हरि-कथा का अधिकारी नहीं होता। अब आप स्वयं सोचिये कि पुस्तकों के अध्ययन और सत्संग में क्या भेद है? सद्‌ग्रन्थ अल्पकाल के सत्संग की महिमा गाते थकते नहीं हैं। आपने कभी इस वास्तविकता पर विचार नहीं किया। यह आवश्यक नहीं है कि केवल ऊपरी मन से प्रथा निभाने के लिए घण्टी बजाकर बैठ जायें। यदि ईमानदारी से हम लोगों को सामूहिक सत्संग करना है, तो सत्संग कीजिये। वह तभी सम्भव होगा, जब आप उसका आश्रय लेंगे, जो सदैव आप में है। मानव-सेवा-संघ की नीति में प्रवचन को भी सत् चर्चा कहा है, सत्संग नहीं। अब धीरज से विचार कीजिये कि सत्य अभी है, सभी में है, सदैव है। अत: सत्य आपका है, आप में है, और अभी है। अपने में अपने को सन्तुष्ट करना सत्संग है। ऐसा करने से तीनों शरीरों का तादात्म्य स्वत: टूट जाता है और सत्संगी सत्य से अभिन्न हो कृतकृत्य हो जाता है। इस अलौकिक, अनुपम, अद्वितीय आनन्द के लिए मानव-सेवा-संघ का दैनिक नित्य-सत्संग है।

दैनिक-नित्य-सत्संग कब, कैसे करना चाहिए? प्रात:काल। यह सर्वमान्य सत्य है कि निर्विकल्प-स्थिति में समस्त प्रवृत्तियों का अन्त होता है। जिसे निर्विकल्पता प्राप्त हो जाय, उसे श्रमयुक्त प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं है। प्रवृत्तियों की सार्थकता निर्विकल्पता में है। निर्विकल्प होने पर अवस्थातीत जीवन की ओर स्वत: प्रगति होती है। इस दृष्टि से निर्विकल्पता के लिए समस्त प्रवृत्तियाँ की जाती हैं। मानव-सेवा-संघ ने मूक-सत्संग को मुख्य सत्संग माना है। उसी से साधक की योग्यता, सामर्थ्य, रुचि के अनुसार साधन की अभिव्यक्ति होती है। और, फिर साधन-तत्त्व से अभिन्नता हो जाती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सत्संग करना है। मूक-सत्संग का समय पूरा होने पर प्रार्थना की जाय और नित्य-कर्म के रूप में भजन-कीर्तन, यदि रुचि हो, तो किया जाय। किन्तु उसका समय 10-15 मिनट से अधिक न हो। विध्यात्मक साधन को सामूहिक रूप देना एक रूढ़ि डाल देना है, और कुछ नहीं। उसके अन्त में पुन: सभी शान्त हो जायें। उसके पश्चात् यदि किसी के मन में कोई बात उठती हो और उस पर उसे परस्पर विचार-विनिमय करना हो, तो किया जाय। बात करने का

ढंग मधुर हो, शान्त हो, आग्रह-रहित हो। तब तो विचार-विनिमय परस्पर चल सकेगा।

मूल प्रश्न तो मनुष्यमात्र में एक ही है, उसी को हल करना है। वह है-भोग, मोह, आसक्ति की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति जिसके लिए उस अनन्त ने अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-जीवन दिया है। अन्त में दूसरी (अन्तिम) प्रार्थना की जाय। जिसकी वाणी में विकल्प-रहित विश्वास न हो, उसका व्याख्यान सुनने से कोई लाभ नहीं होगा।

सायंकाल की बैठक में प्रथम संघ के ग्यारह नियमों का पाठ एवं तत्पश्चात् उनकी व्याख्या की जाय।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से आप सभी को 'सत्संग' करने की सामर्थ्य प्रदान करें। इसी सद्भावना के साथ आप सभी को बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द!** **अकिंचन**

**शरणानन्द**

## (7)

**मेरे निजस्वरूप परम-स्नेही प्रभु के प्यारे प्रिय साधकों!**

'जीवन' अपने में है-यह सद्गुरु-वाक्य भी है और अनुभव-सिद्ध सत्य भी है। इतना ही नहीं, समस्त कामनाओं के मूल में 'जीवन' की माँग सहज तथा स्वभाविक भी है। फिर भी बड़े ही आश्चर्य की बात है कि साधक की हुई तथा जानी हुई बुराइयों से रहित होकर और स्वत: होने वाली भलाई के अभिमान तथा फलाशक्ति को त्यागकर सहज भाव से अपने में सन्तुष्ट होकर अविनाशी रसरूप चिन्मय जीवन को प्राप्त नहीं करते! सजग साधक शीघ्रातिशीघ्र सावधान होकर जीवन-धन को पाकर सदा के लिए कृतकृत्य हो जायें, इसी सद्भावना से प्रेरित होकर सेवा में निवेदन है कि 'जीवन' की माँग वास्तविक माँग है, उसकी पूर्ति अनिवार्य है। इस सत्य में अविचल आस्था करो, तभी भूल से उत्पन्न हुए काम का नाश होगा और फिर सभी साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक सब ओर से विमुख होकर अपने में अपने प्रेमास्पद को पायेंगे। जो अपने में है, वही सदैव अपना है, उसी में अगाध प्रियता होनी चाहिए।

जो अपने में नहीं है, वह किसी भी काल में अपना नहीं है, इस वास्तविकता को स्वीकार कर सब ओर से विमुख होकर अपने में सन्तुष्ट

होना अनिवार्य है। जो अपने में नहीं है, उसे पसन्द मत करो, इतने मात्र से ही अपनी समस्या हल हो जायेगी। जो अपना नहीं है, उसे बुरा समझना, उसमें ममता करना, उसको बनाये रखने की सोचना भारी भूल है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। भूल का अन्त होने पर वास्तविकता का बोध स्वत: होता है और वास्तविकता के बोध में ही भूल का अत्यन्त अभाव है। भूल का अन्त करने के लिए सब प्रकार की पराधीनताओं का त्याग करना होगा और स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीन होकर सजगता प्राप्त करनी होगी। बस, यही मानव का परम पुरुषार्थ है। इतना ही नहीं, इसी वास्तविकता को स्वीकार करने के लिए ही मानव-जीवन मिला है।

जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव-जीवन मिला है, उसकी माँग सबल होने पर उद्देश्य-पूर्ति की सामर्थ्य अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्रत्येक साधक को स्वत: प्राप्त होती है। साधक के जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है-इस महावाक्य में अविचल आस्था करते ही सफलता की उत्कृट लालसा तीव्र होती है, जो समस्त कामनाओं को भस्मीभूत कर साधक को साध्य से अभिन्न कर देती है। यह सजग साधकों का अनुभव है।

अपने परम प्रेमास्पद सदैव अपने ही में हैं। उनमें अपनी अविचल आस्था रहनी चाहिए। प्रेमास्पद के अस्तित्व तथा महत्त्व को स्वीकार कर उनसे आत्मीय सम्बन्ध अत्यन्त आवश्यक है। आत्मीय सम्बन्ध से ही साधक में अखण्ड स्मृति तथा अगाधप्रियता की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् साधक का अस्तित्व साधना से अभिन्न हो जाता है। साधना साध्य का स्वभाव तथा साधक का जीवन है। साधना और साध्य में जातीय एकता है। इसलिए साधक साधना से अभिन्न होकर सदा-सदा के लिए अविनाशी-रसरूप-चिन्मय जीवन को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है।

इस दृष्टि से जीवन का जो सत्य है उसे स्वीकार करना सभी साधकों के लिए अनिवार्य है। जो अपने में नहीं है, वह कभी भी अपने को नहीं चाहिए-यही वास्तविक त्याग है। इसको अपनाये बिना चिर-शान्ति, जीवन-मुक्ति तथा परम प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस कारण त्याग को अपनाकर ज्ञान का प्रकाश, प्रेम का रस एवं योग की सामर्थ्य प्राप्त कर सभी साधक कृतकृत्य हो जायें। इसी सद्भावना के साथ अनन्त के नाते सभी को बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। अकिंचन-

शरणानन्द

(8)

**सत्संग-प्रेमी महानुभाव!**

निर्लोभता के बिना दरिद्रता का, निर्मोहता के बिना भय का, निष्कामता के बिना अशान्ति का, और असंगता के बिना पराधीनता का नाश नहीं होता। यह दैवी विधान है। विधान को सर्वांश में अपनाए बिना कोई भी साधक साधननिष्ठ नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, विधान के आदर में ही जीवन का आदर है। उसका अनादर करना अपने ही द्वारा अपना अनादर करना है। अपनी दृष्टि में आदर के योग्य हो जाने पर मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक सम्मान की वासना से मुक्त हो जाता है, अपने साध्य को पाकर कृतकृत्य हो जाता है-यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। देहाभिमान रहते हुए कभी भी कोई भी पराधीनता आदि विकारों से रहित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सुख, सुविधा, सम्मान की वासना का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्य को स्वीकार करने पर ही सम्भव है।

मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में अपने द्वारा अपने लिए सत्य को स्वीकार करने से ही समस्त समस्याओं का हल हो सकता है। सत्चर्चा, सत्चिन्तन और सत्कार्य तो देहाभिमानी भी कर सकता है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि सत्चर्चा, सत्चिन्तन आदि नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि 'स्व' के द्वारा सत्य को स्वीकार किए बिना चर्चा, चिन्तन एवं कार्य आदि मानव को मिथ्या अभिमान में आबद्ध करते हैं, जो भारी भूल है और इस भूल से ही अनेक विकार उत्पन्न होते रहते हैं। इस कारण मानव-सेवा-संघ का परामर्श है कि मानव-मात्र को सर्वप्रथम अपने द्वारा अपने लिए 'सत्य' को स्वीकार करना चाहिए। सत्य को स्वीकार करने पर सत्चर्चा, सत्चिन्तन, सत्कार्य आदि देह-धर्म स्वत: होने लगते हैं और अभिमान की उत्पत्ति नहीं होती। निरभिमानता के बिना कभी भी किसी की एकता, समानता, स्वाधीनता आदि दिव्य-जीवन से अभिन्नता नहीं होती। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक सत्संग के द्वारा साधननिष्ठ हो जाय।

यह सभी को विदित है कि सर्वांश में तो कभी किसी के जीवन में अकर्त्तव्य तथा असाधन नहीं होता। किसी-न किसी अंश में कर्त्तव्य-परायणता आदि साधना सभी के जीवन में रहती ही है। आंशिक साधना के आधार पर अपने को सन्तुष्ट करना बड़ी ही भयंकर असाधना है। इससे सजग साधक को बड़ी ही सावधानीपूर्वक अपने को बचाना चाहिये। यह तभी सम्भव होगा जब साधक को आंशिक असाधना भी असह्य हो जाय। उसके लिए आंशिक साधना को साधना नहीं मानना चाहिए। साधना एक अलौकिक तत्त्व है। मानव ने उसकी खोज की है। साधना मानव की उपज नहीं है, अपितु ईश्वरीय शक्ति

है। ईश्वरीय शक्ति अनन्त और अविनाशी है। उसका कभी नाश नहीं होता। यदि यह कह दिया जाए कि साध्य के समान ही साधना भी अनुत्पन्न हुआ तत्त्व है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। साधना में ही साधक का अस्तित्व विलीन हो जाता है। साधन सदैव साध्य से अभिन्न है। असाधन प्राकृतिक नहीं है। मानव अपनी ही भूल से असत् के संग को अपनाकर असाधन को जन्म देता है। जिसे मानव ने अपनी भूल से उत्पन्न किया है, उसका नाश भूल-रहित होने पर ही होगा। इस दृष्टि से भूल-रहित होने में ही मानव का पुरुषार्थ है। भूल-रहित होने के लिए अपनी भूल का अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है।

अपनी भूल का अनुभव तभी होगा, जब आंशिक साधना को अपनी साधना स्वीकार न किया जाय, अपितु आंशिक असाधन को भूल मान लिया जाए। भूल कितनी ही पुरानी क्यों न हो, यदि उसे नापसन्द कर दिया जाय, तो तुरन्त मिट जाती है। भूल मिटाने में अधिक समय नहीं लगता। भूल को भूल अनुभव करने में भले ही समय लग जाय। जिस साधक को पर-दोष-दर्शन में सुख मिलता है, वह बेचारा अपने ही द्वारा अपनी भूल को पुष्ट करता है और फिर अपने दुःख का कारण दूसरों को मानता है। उसका परिणाम यह होता है कि नित नये दुःख में आबद्ध होता रहता है। यद्यपि सुख-दुःख प्राकृतिक तथ्य हैं, पर साधनरूप हैं। सत्य को स्वीकार करने पर सुख-दुःख साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाते। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय से आए हुए सुख-दुःख दोनों ही से साधक साधननिष्ठ हो सकता है। साधननिष्ठ होने में तो एकमात्र असत् का संग ही बाधक है। सत्य को स्वीकार करने पर सभी बाधाएँ स्वतः नाश हो जाती हैं। यह साधननिष्ठ साधकों का अनुभव है। अब यह भली-भाँति स्पष्ट हो गया कि सत्य को स्वीकार किये बिना काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। इस कारण शीघ्रातिशीघ्र बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों को सहन करते हुए भी सत् को स्वीकार करने के लिए सतत् प्रयत्नशील होना चाहिये। सफलता अवश्यम्भावी है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को 'सत्' को स्वीकार करने की प्रेरणा प्रदान करें, जिससे मानव 'उनका' होकर सदा के लिए सब प्रकार से पूर्ण हो जाय। इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! अकिंचन-

शरणानन्द

## (9)

**मेरे निजस्वरूप परम-प्रिय साधक महानुभाव!**

क्षोभ और क्रोध के रहते हुए क्या किसी को कभी भी चैन मिल सकता है? कदापि नहीं। अब विचार यह करना है कि क्रोध तथा क्षोभ का मूल कारण क्या हो सकता है। अपनी रुचि-पूर्ति के लिए दूसरों से आशा करने से क्या सदैव रुचि-पूर्ति सम्भव है? जीवन का अनुभव तो यह है कि सदैव कभी किसी की रुचि पूरी नहीं होती। रुचि का जन्म पराधीनता से उत्पन्न होने वाली सुखलोलुपता से होता है। प्राकृतिक विधान के अनुसार सुखलोलुपता भयंकर दु:ख की जननी है। रुचि की अपूर्ति होने से सजग साधक को रुचि-निवृत्ति की प्रेरणा लेनी चाहिए। जब रुचि नाश हो जाती है, तब आनन्ददायक वास्तविक माँग सबल तथा स्थायी होती है, जिसके होते ही भूल से उत्पन्न होने वाली सभी कामनाएँ नाश हो जाती हैं और फिर प्रभु के मंगलमय विधान से अविनाशी-स्वाधीन-रसरूप जीवन की माँग पूरी हो जाती है। इस दृष्टि से रुचि की पूर्ति न होना प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में सभी का मंगल है, किसी का अमंगल नहीं है। पर यह रहस्य वे ही सजग साधक जान पाते हैं जिन्होंने निजज्ञान के प्रकाश में अपने जीवन का अध्ययन किया है और उसके फलस्वरूप जीवन का जो सत्य है, उसे अपनाया है।

सच्चा आदर, सम्मान, प्यार किसे मिलता है? जिसके पास कुछ नहीं है और जिसे कुछ नहीं चाहिए, तथा जिसका जीवन शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम से भरपूर है। शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम किसी परिस्थिति से प्राप्त नहीं होते, अपितु प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोगपूर्वक सभी परिस्थितियों से अतीत जो वास्तविक जीवन है, उसकी आवश्यकता अनुभव करने से शान्ति की प्राप्ति होती है और शान्ति की पूर्णता में स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। स्वाधीनता में ही प्रेम अभिव्यक्त होता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। हमसे सबसे बड़ी भूल यह होती है कि हम वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि के द्वारा शान्ति प्राप्ति करना चाहते हैं, जो सर्वदा असम्भव है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वस्तु आदि का कोई दोष है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु आदि का आश्रय नहीं रखना चाहिए। वस्तुओं का सदपुयोग व्यक्तियों की सेवा में साधन-रूप हो सकता है। वस्तुओं का संग्रह और व्यक्तियों की ममता समस्त दु:खों का मूल है। यद्यपि वस्तुओं का अभाव भी कष्टदायक है, परन्तु वस्तुओं का प्रभाव (दासत्व) अभाव से भी कहीं अधिक दु:खद है। इतना ही

नहीं, वस्तुओं के अभाव से तो केवल शारीरिक कष्ट होता है, किन्तु वस्तुओं के प्रभाव से तो शारीरिक, मानसिक और आन्तरिक अनेक भयंकर कष्ट अनन्त काल तक भोगने पड़ते हैं।

इस दृष्टि से वस्तुओं का प्रभाव, अभाव से भी अधिक दुःखद है। इसी वास्तविकता को बताने के लिए प्रभु-विश्वासी भक्त ईसा ने कहा था कि 'सुई के छेद में-से ऊँट भले ही निकल जाय, किन्तु धन के गुलाम का सत्य के साम्राज्य में प्रवेश सम्भव नहीं है।' शरणागत साधकों का अनुभव है कि अकिंचन हुए बिना शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। इतना ही नहीं, अर्थ-सम्पन्न प्राणियों को स्थायी आदर तथा प्यार भी नहीं मिलता। यदि कोई उनकी सेवा भी करता है, तो पैसे वाला मान लेता है कि मेरे पैसे का प्रभाव है और यदि कोई सेवा नहीं करता है तो बेचारे पैसे वाले को क्रोध आता है। इतना ही नहीं, निम्न-कोटि के लोग तो उसके पैसे को छीन ही लेना चाहते हैं।

आज वर्तमान युग में अर्थ के अभाव तथा प्रभाव में आबद्ध व्यक्तियों के बीच घोर संघर्ष प्रत्यक्ष हो रहा है। अर्थ से प्रदत्त जो सुविधायें थीं, वे आज घोर दुःख में बदल रही हैं। इस कारण सजग मानव को अर्थ के प्रभाव से मुक्त होकर प्राप्त अर्थ का सदुपयोग शीघ्र-से-शीघ्र करने का प्रयास करना चाहिए और अकिंचन होकर परम उदार, परम स्वतन्त्र, परम प्रेम से भरपूर प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर सदा-सदा के लिए सर्व दुःखों की निवृत्ति, जीवन-मुक्ति एवं परा-भक्ति का अधिकारी हो जाना चाहिए। नहीं तो अनमोल मानव जीवन अपनी भूल से बरबाद हो जायेगा।

किसी दुःखी को देखकर करुणित होने पर जो प्रेरणा मिली वह अनन्त के नाते निवेदन कर दी। रुचे तो अपनाइए और मानव जीवन सफल बनाइए। इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से अर्थ के अभाव तथा प्रभाव से पीड़ित प्राणियों को साधननिष्ठ बनायें-यही मेरी सद्भावना है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

## (10)

**मेरे निजस्वरूप परमस्नेही साधक महानुभाव तथा भगवत् अनुरागी सत्संग-प्रेमी भाई तथा बहन!**

"मानव" अनन्त की अनुपम रचना होने से मानव-जीवन बड़ा ही उपयोगी जीवन है। यद्यपि मानव में अपना कुछ नहीं है, वह अकिंचन है, फिर भी उपयोगी है। यह इस जीवन की विलक्षणता है। परन्तु मिली हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग से वही मानव इतना गिर जाता है कि अपने लिए भी अपने को अनुपयोगी पाता है। अतएव मिली हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग का सजग मानव के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। कारण कि मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग भारी भूल है। भूल-रहित हुए बिना चैन से रहना जड़ता है। जड़ता मानवता नहीं है, अपितु अमानवता है। अमानवता पशुता से भी निम्नकोटि की होती है, कारण कि करोड़ों हिंसक जन्तुओं से भी उतनी हिंसा नहीं होती, जितनी कि एक-एक अमानव से अल्पकाल में होती है। इतना ही नहीं, अमानवता जब तक जीवन में रहती है, तब तक हिंसा होती ही रहती है। सर्वांश में अमानवता का अन्त किए बिना जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा ही नहीं हो सकती। उसके बिना निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य-जीवन की अभिव्यक्ति ही नहीं होती, जिसकी माँग सदैव सभी को है।

इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को शीघ्रातिशीघ्र अपने द्वारा अपने में से सजगतापूर्वक अपनी भूल से उत्पन्न हुई अमानवता को सर्वांश में सदा के लिए अलग कर ही देना चाहिए। तभी मानव में मानवता की अभिव्यक्ति होगी और फिर वह स्वत: सभी के लिए उपयोगी हो जायेगा, कारण कि मानवता में ही पूर्णता है। साधक पूर्णता से विमुख हुआ है, अलग नहीं हो गया है। जिससे जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध है, उससे स्वरूप से भिन्नता कभी नहीं होती और जिससे वास्तव में भिन्नता है, उससे एकता नहीं होती। यह प्राकृतिक विधान है। अमानवता को मानव अपने में आरोपित कर लेता है, उससे अभिन्न नहीं होता। मानवता की विस्मृति होती है, उससे भिन्नता नहीं होती । जिससे अभिन्नता है, उससे दूरी अनुभव कर बैठना और जिससे भिन्नता है उसको अपने में स्वीकार कर लेना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसकी निवृत्ति सत्य को स्वीकार करने से सदा के लिए हो सकती है।

अत: वास्तविक जीवन से कभी भी, किसी भी साधक को निराश नहीं होना चाहिए, अपितु वास्तविकता के लिए नित-नव उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता रहे। नित-नव उत्साह से आवश्यक सामर्थ्य स्वत: अभिव्यक्त होती है-यह प्रभु का मंगलमय विधान है। सामर्थ्य का सदुपयोग कर्त्तव्य-विज्ञान है, जिसका उत्तर पक्ष 'योग' है। कर्त्तव्यपरायणता तथा योग प्रत्येक साधक का सहज तथा

स्वाभाविक जीवन है। कर्त्तव्यपरायणता से ही परस्पर एकता और योग से चिरशान्ति सदैव सभी को प्राप्त होती है। एकता और शान्ति मानवता का स्थूल रूप है अथवा यों कहो कि बाह्य रूप है। आन्तरिक रूप तो स्वाधीनता तथा अगाध प्रेम है। स्वाधीनता में कितना रस है, इसे तो वे ही जानें, जिन्हें स्वाधीनता प्राप्त है। जब स्वाधीनता के रस का ही वर्णन नहीं हो सकता, तो प्रेम के रस का तो कोई वारापार ही नहीं है।

जो मानव एकता, शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम का जन्मजात अधिकारी है, आज उसने अपनी ही भूल से अपनी जो दुर्दशा की है, उसे देख हृदय विदीर्ण होने लगता है। यद्यपि पर-पीड़ा से पीड़ित होना विकास की भूमि है, परन्तु पर-पीड़ा गहरी होनी चाहिए। उसी से पर-सेवा की अभिव्यक्ति होती है। पर-सेवा और प्रिय-चर्चा साधक का सहज स्वभाव है। किन्तु पर-चर्चा के समान और कोई भारी भूल नहीं है। इससे सभी साधकों को सदा के लिए बचना चाहिए। चर्चा उसकी करनी चाहिए जो मौजूद है, पर दूर मालूम होता है। चर्चा की पूर्णता अखण्ड स्मृति में होती है, जो वास्तविक उपासना है और जिसे "स्व" के द्वारा किया जा सकता है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी शक्तियाँ स्मृति में विलीन हो जाती हैं और स्मृति में बोध, प्रेम तथा प्राप्ति निहित है, अर्थात् बोध-प्रेम-प्राप्ति स्मृति का ही स्वरूप है।

पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक अपनी उत्पन्न की हुई भूल से रहित होकर सदा के लिए सत्य को स्वीकार करे। सत्य किसी को अप्राप्त नहीं है। मानव अपनी भूल से असत्य को मानने लगता है और सत्य से विमुख हो जाता है। मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में सत्य को स्वीकार करना ही साधक का परम पुरुषार्थ माना गया है। अपनी स्वीकृति अपने से अभिन्न हो जाती है, यह जीवन विज्ञान है। सत्य को स्वीकार करते ही भूल नाश हो जाती है, यह जीवन-दर्शन है। विज्ञान और दर्शन से जो सिद्ध है, उसका कभी नाश नहीं होता। जो अविनाशी है, वही जीवन है। जिसका कभी नाश नहीं होता, उसमें जड़ता की गन्ध भी नहीं है। इस दृष्टि से जीवन चिन्मय है। जिसमें जड़ता नहीं है, उसमें नीरसता भी नहीं है। अतएव जीवन नित-नव रस से भरपूर है। जीवन से विमुख होना, उसकी माँग का अनुभव न करना उसके बिना किसी भी प्रकार से चैन से रहना ही मानव की अपनी बनाई हुई जड़ता है। प्राकृतिक जड़ता व्यक्त-अव्यक्त शक्तियों के रूप में है। उससे साधक की कोई क्षति नहीं होती। वह सत्य से विमुख नहीं करती, अपितु सभी को सत्य की ओर प्रेरित करती है, संकेत करती है। इतना ही नहीं, जो कोई सत्य की माँग अनुभव करता है, उसकी सेवा करती है, स्वागत करती है। व्यक्त-अव्यक्त जगत् प्रसन्न होता है-यह शरणागत साधकों का अनुभव है।

जिस काल में साधक स्वाधीन होना पसन्द करता है, उसी काल में दैवी-शक्तियाँ उसकी सेवा करने के लिए लालायित होने लगती हैं। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। स्वाधीनता की माँग ही वह माँग है, जो पूरी हो सकती है। उसमें विकल्प करना भूल है। जिस माँग की पूर्ति में विकल्प नहीं होता, वही माँग सबल तथा स्थायी हो जाती है। जिसके होते ही काम का नाश, चिरशान्ति तथा जीवन-मुक्ति स्वतः प्राप्त होती है। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को भूल-रहित होने की तीव्र लालसा प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**
**शरणानन्द**

## (11)

**मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा सत्संग-प्रेमी भाई व बहन!**

साधक में देहाभिमान की गंध भी नहीं होती है। कारण कि देहाभिमानी साधक नहीं हो सकता। अब विचार यह करना है कि देहाभिमान तथा आत्म-सम्मान में क्या भेद है? भौतिकतवादी दृष्टिकोण से भी यह निर्विवाद सिद्ध है कि शरीर संसार-रूपी सागर की एक नन्हीं-सी लहर है। लहर और सागर में एकता जल की होती है, न लहर की और न सागर की। जब तक इस वास्तविकता का बोध नहीं होगा कि सत्तारूप से जल-ही-जल है, जल से भिन्न कभी कुछ हुआ ही नहीं, तब तक साधक अपने को भौतिकवादी कह सकता है। भौतिकवाद भी जीवन का एक सत्य है। पर साधक होने के नाते भौतिकवादी के जीवन में भी उदारता, समता एवं एकता की अभिव्यक्ति होती है, जो बेचारे देहाभिमानी में सम्भव नहीं है। देहाभिमानी तो सुख-सुविधा-सम्मान का दास होकर वह भी करता है जो उसे करना चाहिए और वह भी कर बैठता है जो उसे नहीं करना चाहिए।

यह सर्वमान्य सत्य है कि आंशिक अच्छाई-बुराई तो उन सभी भाई-बहनों में होती है जो अपने को साधक स्वीकार नहीं करते। साधक स्वीकार करने पर बुराई-रहित अच्छाई का व्रत अनिवार्य हो जाता है। किसी व्रत को पूरा करने के लिए तप, प्रायश्चित्त तथा प्रार्थना अनिवार्य है, जो बेचारा देहाभिमानी सही रूप से कर ही नहीं पाता। देहाभिमानी का तप उसके अहं

को ही पोषित करने के लिए होता है। उसकी प्रार्थना कामना-पूर्ति के लिए होती है और उसका प्रायश्चित्त बलपूर्वक इन्द्रिय आदि को कुछ काल के लिए दबाने का होता है जो वास्तव में असाधन ही हैं।

प्राकृतिक विधान के अनुसार तप, प्रायश्चित्त और प्रार्थना किसी न किसी अंश में मानव-मात्र में रहती ही है। परन्तु जो साधक है, उसका तप अपने को अपने पर विजयी होने में, उसका प्रायश्चित्त सर्वांश में भूल-रहित होने में और उसकी प्रार्थना उदारता, समता, स्वाधीनता एवं प्रियता को प्राप्त करने के लिए होती है। तप और प्रायश्चित्त का अन्त वास्तविक प्रार्थना में ही होता है। इतना ही नहीं, साधक का अस्तित्व ही प्रार्थना हो जाता है, जिसे देख परम उदार, परम स्वतन्त्र, परम प्रेम से भरपूर उसे अपना लेते हैं। यदि यह कह दिया जाय कि वास्तविक प्रार्थना ही साधक का अन्तिम पुरुषार्थ है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। पूर्ण जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा एवं प्रेम की भूख प्रार्थना के ही रूप हैं। कभी-कभी साधक व्याकुलतापूर्वक यह आवश्यकता अनुभव करने लगता है कि शरीर विश्व के काम आ जाय, हृदय प्रेम से भर जाय और अहं अभिमान-शून्य हो जाय-यह प्रार्थना ही तो है! साधक अपनी वास्तविक आवश्यकता का अनुभव करता है, इस दृष्टि से प्रार्थना ही साधक का अस्तित्व है।

अब आप विचार करें, प्रार्थी में देहाभिमान रह ही कैसे सकता है? जिसने अपनी वास्तविक माँग का अनुभव ही नहीं किया, वह साधक श्रेणी में नहीं आ सकता। सुख-सुविधा-सम्मान तो प्राणी-मात्र को पसन्द है। इसी दुर्बलता के कारण बेचारा प्राणी अनेक ऊँच-नीच भोग-योनियों में भटकता रहता है। अनन्त की अहैतुकी कृपा से जब उसे मानव जीवन मिलता है, तब उसे अपने को साधक स्वीकार करने की स्वाधीनता मिल जाती है। इसी वास्तविकता को बताने के लिए मानव-सेवा-संघ साधकों का संघ बना है। यह असाधकों या सिद्धों का नहीं है। इसका अर्थ कोई यह न मान बैठे कि मानव-सेवा-संघ में सम्मिलित होने मात्र से ही वह साधक हो जाता है। सम्मिलित होना तो साधन के लिए प्रवेश पाना है।

साधक के लिए आत्म-निरीक्षण सर्वप्रथम पुरुषार्थ है। पर बेचारा पर-दोषदर्शी आत्म-निरीक्षण कर ही नहीं पाता। इस कारण बेचारा देहाभिमानी साधकों के संघ में सम्मिलित होने पर भी साधक श्रेणी को प्राप्त नहीं कर पाता। अत: प्रत्येक साधक को सजगतापूर्वक यह भली-भाँति अनुभव करना चाहिए कि 'मैं शरीर नहीं हूँ।' साधक का पुरुषार्थ सत्संग है और साधन-तत्त्व की प्राप्ति साधक का जीवन है। अर्थात् साध्य की अगाध प्रियता से भिन्न साधक का और कोई अस्तित्व ही नहीं है।

साधन-तत्त्व से अभिन्न होने के लिए साधक समुदाय को अपने-अपने सम्बन्ध में विचार-विनिमय करना चाहिए। विचार-विनिमय का अर्थ विवाद नहीं है, दूसरों को समझाना भी नहीं है, अपितु भूल-रहित होने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना है। यह तभी सम्भव होगा जब मानव सुख-सुविधा-सम्मान की दासता से मुक्त होकर निज-ज्ञान के प्रकाश में अपनी भूल का अनुभव करे और भूल-रहित होकर साधन-तत्त्व का अधिकारी हो जाय। साधक को 'साधक' होने का ही अपनी दृष्टि में गौरव होता है, किसी को पराजित करने का नहीं। वह जब तक साधन-तत्त्व से अभिन्न न हो जाय, तब तक उसे एक गहरी वेदना रहती है। वेदना एक ऐसा अलौकिक तत्त्व है, जो सभी निर्बलताओं को मिटाकर साधक को साधन-तत्त्व का अधिकारी बना देती है।

गहरी वेदना तभी होती है, जब साधक सद्‌गुरु-वाक्य के आधार पर तथा निज माँग के द्वारा इस बात में अविचल आस्था करे कि मैं साधक होने के नाते साधन-तत्त्व से अभिन्न हो सकता हूँ। अभिन्न होने पर ही साध्य की उपलब्धि होती है। साधन-तत्त्व की माँग जाग्रत होते ही साधक दृश्य के आकर्षण से रहित हो जाता है, यही साधक का अपना आत्म-सम्मान है। अब यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि साधक देहाभिमानी नहीं होता और बेचारा देहाभिमानी साधक नहीं हो पाता।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को साधक स्वीकार करने की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्‌भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (12)

**मेरे निज स्वरूप परमस्नेही साधक महानुभाव तथा भगवत् अनुरागी एवं सत्संग-प्रेमी भाई और बहन!**

प्रत्येक कर्म का जन्म कर्ता में से ही होता है, अर्थात् जैसा कर्ता वैसा कर्म। कर्म से कर्ता नहीं बनता, अपितु कर्ता में से ही कर्म निकलता है। यदि कर्म से कर्ता बन सकता होता, तो आज वैज्ञानिक लोग ऐसी फैक्टरी बना देते कि जिसके द्वारा भले आदमी बन जाते और फिर सभी को अच्छे-से-अच्छे साथी जितने चाहिएँ, मिल जाते। पर आज मानव समाज ऐसा नहीं कर सका।

इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि जब कर्ता भला होता है, तब कर्म भला होगा; और भले कार्यों से ही विश्व-शान्ति का प्रश्न हल होगा।

परिवार, समाज और संसार स्वरूप से एक हैं। जिस परिवार में रहते हैं, वह भी विश्व का ही एक रूप है। हमारे साथ वे क्या करते हैं, इस पर तो हम ध्यान देते हैं। पर क्यों करते हैं? इस पर विचार नहीं करते। उसका परिणाम यह होता है कि हम दूसरों को अपराधी मानकर क्षोभ तथा क्रोध से भर जाते हैं, जिससे अपनी बड़ी ही क्षति होती है। और उसे, जिसने हमारे साथ बुराई की, सर्वांश में बुरा मान लेते हैं। इसका भयंकर परिणाम यह होता है कि वह बेचारा हमारे संकल्प से ही विवश होकर पुन: बुराई करने लगता है। जैसे-जैसे हम उसे बुरा मानते जाते हैं, वैसे-वैसे वह बुराई करता जाता है और हम पुन: उसे बुरा मानते जाते हैं। हमारे बुरा मानने से जितनी क्षति होती है, उतनी क्षति उसके बुराई करने से नहीं होती।

यदि हम अपने प्रति होने वाली बुराई को हर्षपूर्वक सहन कर लेते और उसे अबोध बालक की भाँति विवश मानकर क्षमा कर देते और हृदय में उसके प्रति करुणा की धारा उदय होती, तो वह सदा के लिए और सभी के लिए बुरा न रहने से बुराई की उत्पत्ति ही नहीं होती। इससे सुन्दर बुराई का और कोई प्रतिकार नहीं है। यह जीवन-विज्ञान है। यदि काई अकारण हमारे प्रति बुराई करता है, तो अच्छा तो नहीं लगता, परन्तु क्षुब्ध होने से अपनी शान्ति भंग होती है, जिससे जीवन में शक्तिहीनता आती है और फिर हम अपने कर्त्तव्य का ठीक पालन ही नहीं कर पाते। यह परिणाम हमारे क्षुब्ध होने का है, किसी की बुराई करने का नहीं। दूसरों की, की हुई बुराई हमें अल्पकाल के लिए दु:खी कर सकती है, पर कर्त्तव्य से विमुख नहीं कर सकती।

दु:खी होने पर यदि हम निज-ज्ञान के आधार पर विचार करें, तो हमें स्पष्ट विदित हो जायेगा कि बुराई करने वाला किसी-न-किसी नाते से अपना ही है। अपने दाँत से अपनी जीभ कट जाती है, तो क्या जीभ दाँतों पर क्रोध करती है? दाँतों को तोड़कर फेंकने के लिए आज्ञा देती है? क्या हम स्वयं दाँतों को तोड़कर फेंक देना चाहते हैं? कदापि नहीं। हम जानते हैं कि दोनों अपने ही हैं। अपने को सावधान रखते हैं। दाँत और जीभ को कुछ नहीं कहते। सावधानी का परिणाम यह होता है कि दोनों व्यक्तित्व हमें अपने से भिन्न अनुभव होते हैं और फिर दोनों व्यक्तित्व एक हो जाते हैं। और हम व्यक्तित्व के मोह से रहित होकर अपने में अपने प्रेमास्पद को पा जाते हैं। यह क्षमाशीलता का फल है और कुछ नहीं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक अपने दु:ख का कारण किसी और को नहीं मानता और न किसी से सुख की आशा ही करता है।

बुराई का मूल निज-ज्ञान का अनादर है। सर्वांश में कभी कोई मानव ज्ञान का अनादर नहीं करता, तो फिर सर्वांश में बुरा कैसे हो सकता है? बुरा कोई होता नहीं, बुराई उत्पन्न होती है। बुराई न दोहराई जाय, तो मिट जाती है। बुराई न रहे, इसके लिए सर्वोत्कृष्ट उपाय यही होगा कि हम स्वयं की हुई बुराई दोहरायें नहीं और अपने प्रति होने वाली बुराई का प्रतिकार न करें, अर्थात् बुराई करने वाले को बुरा न समझें। यदि सम्भव हो तो बदले में भलाई करें। उसके आक्रमण से क्षोभित न हों और उसके लिए सद्‌भाव रखें, उसे मूक प्यार करें तो अपना कल्याण अवश्य होगा। अपने को परम उदार, परम स्वतन्त्र, परम प्रेम से भरपूर प्रेमास्पद की प्राप्ति हो जायेगी। यह प्रभु-विश्वासी साधकों का अनुभव है।

अब विचार यह करना है कि दूसरों की भूल अपने को क्षोभित न करे, इसके लिए उपाय क्या हो सकता है? इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह विचार करना चाहिए कि क्षोभित होने से सबसे बड़ी क्षति क्या होती है? उत्तर होगा-विस्मृति। विस्मृति के समान और कोई क्षति हो ही नहीं सकती। कारण कि समस्त विकार, पराधीनता, जड़ता, नीरसता, भेद, भिन्नता आदि सब विस्मृति के ही परिणाम हैं। स्मृति में जीवन है। जीवन में नीरसता की गन्ध भी नहीं है, न किसी प्रकार का अभाव है। अभाव-रहित, रसरूप, अविनाशी जीवन स्मृति में ही है। इस दृष्टि से सजग साधक को विस्मृति का अन्त करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब परिस्थितिवश आने वाले सुख-दु:ख के आक्रमण से अपने को बचायें।

अपमान का दु:ख एक बड़ा भयंकर दु:ख है। उसी प्रकार सम्मान की पूर्ति सुख के रूप में बहुत बड़ी जड़ता है। अपमान का दु:ख और सम्मान की जड़ता का मूल है-अपनी वास्तविक माँग की विस्मृति। यदि साधक अपनी वास्तविक माँग को कभी न भूले, तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक आए हुए आक्रमण से बच सकता है और फिर माँग की पूर्ति हो जाने से जीवन की सभी समस्यायें स्वत: हल हो जाती हैं।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से विद्यमान माँग को जगायें, इसी सद्‌भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

## (13)

**मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी भाई और बहन!**

सत्संग ही एकमात्र मानव-मात्र का परम पुरुषार्थ है। जीवन का जो सत्य है, उसे स्वीकार करना ही सत्संग है। प्रत्येक संयोग संयोग-काल से ही वियोग की अग्नि में जल रहा है-वह सर्वमान्य वैधानिक सत्य है। उसे स्वीकार करने पर संयोग तथा वियोग का स्वतः सदुपयोग होने लगता है। संयोग का सदुपयोग परस्पर एक-दूसरे के काम आने में और वियोग का सदुपयोग अपने में सन्तुष्ट होकर नित्य योग की प्राप्ति में है। नित्य योग में ही नित्य जीवन, नित्य रस की प्राप्ति होती है और परस्पर काम आने से जन्म-जन्मान्तर का विद्यमान राग निवृत्त हो जाता है। राग-रहित होते ही साधक बोध को प्राप्त कर सब प्रकार से अभय हो जाता है। पर यह रहस्य वही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते हुए अपने को अधिकार-लोलुपता से रहित कर लिया है। जिसने सभी पर से अपना अधिकार हटा लिया है, वह सदा के लिए क्रोध-रहित हो जाता है; अर्थात् अधिकार देने से राग का और अधिकार छोड़ने पर क्रोध का नाश हो जाता है। राग तथा क्रोध से रहित होते ही योग एवं स्मृति का उदय होता है।

योग से चिरशान्ति एवं स्मृति से प्रमाद का नाश हो जाता है। चिरशान्ति सामर्थ्य की और स्मृति बोध की जननी है। सामर्थ्य का उदय होने पर अकर्त्तव्य का जन्म ही नहीं होता, कारण कि जो नहीं करना चाहिए उसको कर बैठना ही सबसे बड़ी असमर्थता है। बल का अभाव होने पर कोई क्षति नहीं होती, अपितु बल के दुरुपयोग से ही सब प्रकार की क्षति होती है। बल का अत्यन्त अभाव हो जाने पर तो साधक बुराई-रहित हो जाता है। कारण कि बुराई का सम्पादन भी तो बिना बल के नहीं होता। इस दृष्टि से शान्ति के सम्पादन से ही सामर्थ्य के सदुपयोग की सामर्थ्य प्राप्त करना अनिवार्य है।

अखण्ड स्मृति से ही बोध तथा प्रेम की प्राप्ति होती है, जिसको पाकर कुछ और पाना शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से साधक के जीवन में राग तथा क्रोध का कोई स्थान ही नहीं है। राग तथा क्रोध की निवृत्ति किसी परिस्थिति विशेष से सम्बन्ध नहीं रखती। इस कारण उसकी प्राप्ति सत्संग के द्वारा सभी परिस्थितियों में हो सकती है। अतः राग तथा क्रोध-रहित होने के लिए प्रत्येक साधक को अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें और आपको मानव-जीवन मिला है। जब साधक राग तथा क्रोध-रहित होने में विकल्प नहीं करता, तब राग तथा क्रोध-रहित होने की माँग सबल हो जाती है, जिसके होते ही

देहाभिमान तथा काम का नाश हो जाता है और माँग स्वतः पूरी हो जाती है। यह प्रभु का मंगलमय विधान है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से आप सभी को साधननिष्ठ बनायें, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (14)

**मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा सत्संग-प्रेमी भाई और बहन!**

हम लोग बार-बार, क्यों दुःखी होते हैं? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जो सम्भव नहीं है, उसे सम्भव बनाना चाहते हैं और जो सम्भव है उसे पसन्द नहीं करते। सम्भव क्या नहीं है और सम्भव क्या है? शरीर का सदैव बना रहना सम्भव नहीं है। उसको बनाये रखने का संकल्प समस्त दुःखों का मूल है। शरीर के रहते हुए शरीर से असंग होकर अपने में सन्तुष्ट हो जाना प्रत्येक साधक के लिए सर्वदा सम्भव है। अपने में सन्तुष्ट होने से ही अपने को परम प्रेमास्पद की स्वतः प्राप्ति हो जाती है। कारण कि जो वास्तव में अपना है वह सदैव अपने ही में है। उसी में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना और उसी की माँग अनुभव करना प्रत्येक साधक का स्वधर्म है। स्वधर्म पालन किये बिना किसी भी अन्य प्रकार से सर्वांश में सदा के लिए सर्व दुःखों की निवृत्ति नहीं होती। यद्यपि सर्व दुःखों की निवृत्ति की माँग मानव-मात्र की अपनी माँग है। इस माँग की पूर्ति के लिए ही मानव-जीवन मिला है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रखना अत्यन्त आवश्यक है।

वास्तविक माँग को देहाभिमान से उत्पन्न हुई कामनाओं से शिथिल बनाना मानव की भारी भूल है। वेद-वाणी तथा गुरु-वाणी के आधार पर यह स्वीकार करना है कि वास्तविक माँग की पूर्ति अवश्य होती है। इस वास्तविकता में विकल्प-रहित विश्वास करने से ही माँग स्वतः सबल हो जायेगी और कामनायें स्वतः मिट जायेंगी। सर्वांश से सभी कामनाओं का नाश होते ही माँग स्वतः पूरी हो जाती है, यह अनुभव सिद्ध सत्य है। कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति का द्वन्द्व परिवर्तनशील शरीर की दो अवस्थायें हैं। इन दोनों अवस्थाओं से सजग साधक को कामनाओं के नाश की प्रेरणा मिलती ही है।

जब यह सर्वमान्य सत्य है कि सभी कामनाओं की पूर्ति कभी किसी की हुई नहीं और कुछ कामनाएँ प्राकृतिक विधान से सभी की पूरी हो जाती हैं, तब प्रत्येक साधक के लिए निष्काम होना अनिवार्य है और यही सम्भव है। इसको अपनाना मानव-मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। निज-विवेक के प्रकाश में यह अनुभव करो कि शरीर आदि कोई भी वस्तु किसी की व्यक्तिगत नहीं है। जिसका अपना कुछ नहीं है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक निष्काम हो जाता है। जिसे कुछ नहीं चाहिए वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक समस्त विश्व से असंग और विश्वनाथ से अभिन्न हो जाता है।

असंगता से सर्व दु:खों की निवृत्ति और अभिन्नता से अलौकिक, अद्भुत, अद्वितीय, अनुपम आनन्द की प्राप्ति होती है, जो मानव-मात्र के लिए सर्वदा सम्भव है। जो सदैव नहीं है उससे असंगता, और जो सदैव सभी के लिए सम्भव है उससे अभिन्नता स्वीकार करना मानव-मात्र का अपने जीवन का सत्य है। जीवन के सत्य को स्वीकार करना वास्तविक सत्संग है।

कुछ साधक संसार की वास्तविकता का अनुभव कर उससे असंग होते हैं और कुछ साधक आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक जो सदैव, सर्वत्र और सभी के लिए सम्भव है उसके शरणागत होकर अभिन्न होते हैं। निजज्ञान से असंगता और विकल्प-रहित विश्वास से शरणागति स्वीकार करना वास्तविक सत्संग है। अत: अपनी-अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के अनुसार जो सम्भव है, उसे अपनाकर सभी साधक कृतकृत्य हो सकते हैं। असंग होकर प्रत्येक प्रवृत्ति विद्यमान राग की निवृत्ति में साधनरूप है और शरणागत होकर प्रत्येक प्रवृत्ति शरण्य की पूजा है। राग का अत्यन्त अभाव होने पर योग, बोध की प्राप्ति होती है। पूजा भाव से की हुई प्रवृत्ति का अन्त अगाधप्रियता में होता है। योग, बोध और प्रेम मानव के विकास की चरम सीमा हैं।

इस दृष्टि से सभी साधक भोग, मोह, आसक्ति की निवृत्ति एवं योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति में सर्वदा स्वाधीन हैं। अत: जो सम्भव है, उसे अपनाओं और जो असम्भव है उसका त्याग कर मानव-जीवन को सार्थक बनाने में अथक प्रयत्नशील रहो, सफलता अवश्यम्भावी है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

## (15)

**मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा सत्संग-प्रेमी भाई और बहन!**

पराश्रय में आस्था रखने पर कभी किसी को स्वाधीनता नहीं मिलती और स्वाधीनता के बिना स्वभाव से जीवन में उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती, यह विधान है। पराश्रय का त्याग तभी हो सकता है जब साधक यह स्वीकार करे कि सदैव-सर्वत्र, अद्वितीय-अनुपम अलौकिक जीवन है। यद्यपि उसकी माँग मानव-मात्र में विद्यमान है। यदि ऐसा न होता तो माँग ही न होती। परन्तु अपने में अपना जीवन होने पर भी साधक अपनी ही भूल से उससे विमुख हो जाता है। इस विमुखता को मिटाने के लिए सर्वप्रथम प्रेमियों को प्रेमास्पद की, जिज्ञासुओं को तत्त्वज्ञान की, योगियों को परमतत्त्व की सत्ता गुरुवाणी, वेदवाणी, भक्तवाणी आदि किसी भी प्रकार से स्वीकार कर लेनी चाहिए। यदि किसी कारण ऐसा सम्भव न हो, तो अपनी वास्तविक माँग के आधार पर भी यह विकल्प-रहित विश्वास किया जा सकता है कि स्थायी माँग उसकी होती है जिसका अस्तित्व है। इसी वास्तविकता को स्वीकार कराने के लिए मानव के रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मानव-मात्र में आस्था का तत्त्व प्रदान किया है। आस्था का सर्वोत्कृष्ट सदुपयोग यही है कि साधक अपने द्वारा अपने लिए अनन्त के अस्तित्व को स्वीकार करे और जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उससे विचारपूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग हो जाय।

यह मानव-मात्र का अनुभव है कि प्रत्येक मानव में ज्ञान तथा आस्था का तत्त्व मौजूद है। और जिसके द्वारा हम कुछ कर सकते हैं, वह बल तो प्राणी-मात्र में है। केवल ज्ञान और आस्था के कारण ही मानव जीवन में विलक्षणता है। इसका उपयोग एकमात्र सत्य को स्वीकार करने में ही है। यही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है। यदि यह कह दिया जाय कि इसी पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव जीवन मिला है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

बड़े ही आश्चर्य की बात तो यह है कि जिसे मानव जब चाहे तब कर सकता है उसको नहीं करता और वास्तव में जो नहीं करना चाहिए, उसी को कर बैठता है। और जो नहीं कर सकता उसके करने की सोचता रहता है। इसी भूल में जीवन की अनमोल घड़ियाँ बीतती जाती हैं। मानव सेवा संघ की प्रणाली में साधक समाज को यह परामर्श दिया गया कि जो नहीं करना चाहिए वह मत करो और जो नहीं कर सकते उसके करने की मत सोचो। और जो कर सकते हो, जो करना चाहिए उसे शीघ्र कर अपने को 'करने' के

राग से मुक्त कर लो। 'करने' का राग मिटते ही स्वतः देह-देही विभाजन हो जाता है और फिर साधक अपने ही में अपने साध्य को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

अब विचार यह करना है कि साधक को क्या नहीं करना चाहिए? तो कहना होगा कि उत्पन्न हुई परिवर्तनशील शरीर आदि वस्तुओं में ममता; अर्थात् यह अनुभव करो कि मिला हुआ शरीर मेरा नहीं है। यह अनुभव अपने ज्ञान द्वारा अपने लिए करना होगा कि मिला हुआ शरीर मेरा नहीं है और न मेरे लिए है। इस वास्तविकता में अविचल दृढ़ता होनी चाहिए। ज्यों-ज्यों साधक इस सत्य को स्वीकार करेगा, त्यों-त्यों उसमें स्वतः निर्विकारता की अभिव्यक्ति होगी। निर्विकारता दैवी सम्पत्ति है। उसमें आकर्षण है, वह सभी को प्यारी लगती है। सभी उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। जिसे निर्विकारता प्राप्त हो जाती है, उसके जीवन में दृश्य का आकर्षण नहीं रहता और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने में सन्तुष्ट हो जाता है।

जीवन अपने में है, जीवन धन अपने हैं। जो अपने में है, उसी को पसन्द करना अध्यात्म-जीवन है। जो अपने हैं उन्हीं को अपना मानना आस्तिक जीवन है। जिन्होंने अपने ही में अपने को सन्तुष्ट किया, वे वर्तमान में ही अमरत्व से अभिन्न हो गए। जिन्होंने जो सदैव अपने हैं, उन्हीं को अपना स्वीकार किया, वे अखण्ड स्मृति तथा अगाधप्रियता पाकर कृतकृत्य हो गए। इस दृष्टि से जो अपना नहीं है, उसे अपना मत मानो और न उसका दुरुपयोग करो। उसका परिणाम यह होगा कि मिले हुए बल का स्वतः सदुपयोग होने लगेगा। बल का सदुपयोग कर्त्तव्य-विज्ञान तथा भौतिकवाद है। इससे साधक की भौतिक उन्नति होती है और सुन्दर समाज का निर्माण होता है। और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक योग का अधिकारी हो जाता है। कारण कि कर्त्तव्य-विज्ञान का उत्तर पक्ष योग है। इसी वास्तविकता को बताने के लिए धर्म की महिमा गाई गई है। धर्मात्मा बड़ी ही सुगमतापूर्वक संसार के चिन्तन से छूट जाता है। इतना ही नहीं, संसार धर्मात्मा की सदैव आवश्यकता अनुभव करता है। संसार जिसकी आवश्यकता अनुभव करे और जो संसार की आवश्यकता अनुभव न करे, इससे बढ़कर भौतिक उन्नति और क्या हो सकती है? जिन कर्त्तव्यनिष्ठ साधकों ने दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते हुए अपने अधिकारों का त्याग किया है, वे बड़ी ही सुगमतापूर्वक योगयुक्त हो जाते हैं और फिर उन्हें अपने ही में कर्त्तव्यनिष्ठ साधकों का अनुभव है।

संसार पर अधिकार बनाये रखने से संसार पकड़ में आता नहीं और उस पर से अधिकार हटा लेने पर संसार अपने को पकड़ पाता नहीं। जैसे,

कोई सूर्य की ओर मुँह करके दौड़े, तो उसकी छाया उसे पकड़ नहीं पाती; उसी प्रकार यदि कोई सूर्य से विमुख होकर छाया की ओर दौड़े, तो वह छाया को पकड़ नहीं सकता। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है कि जो देखने में आता है, उसकी प्राप्ति नहीं होती है, और जिसकी प्राप्ति होती है वह देखने में नहीं आता। जो देखने में नहीं आता उसी में अविचल आस्था करनी चाहिए। आस्था से देखे हुए का सम्बन्ध बड़ी ही सुगमतापूर्वक मिट सकता है और फिर साधक दृश्य के प्रभाव से रहित हो जाता है। जिसके होते ही चिर शान्ति, जीवन मुक्ति स्वत: प्राप्त होती है, यह सजग साधक के जीवन का सत्य है। इसमें विकल्प करना भारी भूल है। शान्ति, मुक्ति स्वत: भक्ति से अभिन्न हो जाती है। शान्ति संसार के लिए, मुक्ति अपने लिए और भक्ति भगवान् के लिए उपयोगी होती है, जो एकमात्र सत्य को स्वीकार करने से प्रत्येक साधक को मिल सकती है। शान्ति, मुक्ति, भक्ति के अतिरिक्त और कोई ऐसा तत्त्व नहीं है, जो सभी को सदा के लिए मिल सके। यदि यह कह दिया जाय कि इससे भिन्न और कुछ प्राप्त हो ही नहीं सकता, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अपितु यही जीवन की वास्तविकता है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को वास्तविकता में अविचल आस्था करने की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (16)

**मेरे निजस्वरूप परम-स्नेही साधक महानुभाव तथा सत्संग-प्रेमी भाई-बहन!**

पराधीनता, नीरसता एवं अभाव में आबद्ध मानव सदैव सुख की दासता एवं दु:ख के भय में आबद्ध रहता है और ऊँच-नीच योनियों में भटकता रहता है। इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है, जब साधक वेद-वाणी, गुरुवाणी, अथवा भक्तवाणी आदि के द्वारा अनुत्पन्न हुए अविनाशी, स्वाधीन, रसस्वरूप प्रभु के अस्तित्व को स्वीकार करें। प्रभु के अस्तित्व को स्वीकार करने पर फिर किसी और के अस्तित्व की अपने को अपने लिए अपेक्षा ही

नहीं रहती। उसका परिणाम यह होता है कि चित्त सब ओर से स्वत: विमुख होकर अपने में जो अपने प्रेमास्पद हैं, उनमें लग जाता है।

जीवन-विज्ञान से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब तक चित्त प्रभु से भिन्न किसी और में लगता है, तब तक उसका अस्तित्व रहता है और वह स्वभाव से ही स्थिर नहीं होता, अर्थात् मन में स्थिरता चित्त में प्रसन्नता और हृदय में निर्भयता की अभिव्यक्ति नहीं होती और उसके बिना साधक शान्ति, मुक्ति एवं भक्ति का अधिकारी नहीं होता। इस दृष्टि से चित्त का सब ओर से विमुख होकर जो अपने में अपना जीवन है, उससे अभिन्न होना अनिवार्य है। इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए आस्थावान साधकों ने सर्वसमर्थ प्रभु के अस्तित्व, महत्त्व और अपनत्व को स्वीकार किया। मानव जिसके अस्तित्व को स्वीकार करता है, उसका उसमें चिन्तन स्वत: होने लगता है। अतएव जिसके चिन्तन से अपने को मुक्त होना है उसके अस्तित्व को ही स्वीकार मत करो। केवल प्रतीति एवं प्रवृत्ति के आधार पर उसके अस्तित्व को स्वीकार करना भारी भूल है।

जिसकी प्राप्ति सम्भव है, भले ही उसकी प्रतीति न हो, किन्तु उसके अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। प्राप्ति उसकी होती है, जो सदैव अपने में है और वही अपना है, उसी में सहज भाव से प्रियता होती है। जो अपने में है उससे साधक अपनी ही भूल से विमुख होता है और फिर प्रवृत्ति द्वारा अपने को शक्तिहीन बनाता है। श्रम से शक्ति का ह्रास होता है, यह जीवन का विज्ञान है। श्रम का आरम्भ ही तब होता है जब मानव अपने में अपने जीवन तथा जीवन-धन को स्वीकार ही नहीं करता।

अब यदि कोई यह कहे कि जो सदैव अपने में है, उसे स्वीकार करने की क्या बात है! तो यह देखना चाहिए कि जो अपना नहीं है, अपने में नहीं है, सदैव नहीं है, केवल प्रतीति मात्र है, उसके अस्तित्व को अस्वीकार करने के लिए अपने में अपने प्यारे प्रभु को स्वीकार करना अनिवार्य होता है। उस पर भी यदि कोई प्रभु को स्वीकार किए बिना, जिसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं, उसे स्वीकार न करे, तो भी साधक अपने में अपने साध्य को पा जाता है। संसार की निवृत्ति से परमात्मा की प्राप्ति और परमात्मा की प्राप्ति से संसार की निवृत्ति अपने आप हो जाती है। जिस अनन्त से समस्त स्वीकृति सिद्ध होती है, वह वास्तव में सभी का अपना है, अपने में है और अभी है-इस वास्तविकता में अविचल आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास अत्यन्त आवश्यक है। प्रभु-विश्वास प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय है। अन्य विश्वास ने ही साधक को अन्य चिन्तन में आबद्ध कर अपने प्यारे प्रभु से विमुख किया है। अन्य

विश्वास के त्याग से प्रभु विश्वास सजीव होता है, जिसके होते ही आत्मीयता की अभिव्यक्ति होती है। आत्मीयता अखण्ड स्मृति तथा अगाधप्रियता की जननी है।

अभाव में आबद्ध रहना किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अपने में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करने मात्र से स्वत: अभाव का अभाव हो जाता है। जिसके होते ही किसी प्रकार की पराधीनता, जड़ता एवं नीरसता शेष नहीं रहती, अर्थात् अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है। यह शरणागत साधकों का अनुभव है। जो अपने में हैं, अपने हैं, अविनाशी हैं, वही वास्तव में हैं। अपने में अपने प्रेमास्पद मौजूद हैं, उन्हीं को अपना मानना अनिवार्य है। जिसका सदैव कोई अपना है, उसी में स्वत: प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। प्रियता से ही प्रियतम को रस मिलता है। अत: सोई हुई प्रियता को जगाने के लिए भक्त-वाणी के आधार पर बिना देखे प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना अनिवार्य है। आत्मीय सम्बन्ध से ही नित नव प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। प्रियता प्रियतम के समान ही अविनाशी, अनन्त, चिन्मय तत्त्व है। कारण कि प्रीति और प्रियतम में जातीय भिन्नता नहीं है। इतना ही नहीं, प्रेम और प्रेमास्पद का नित्य विहार ही भक्ति तत्त्व है, जिसकी प्राप्ति के लिए एकमात्र जीवन के सत्य, अर्थात् अपने में सदैव अपने प्रेमास्पद मौजूद हैं-को स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है।

अपने से भिन्न जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह कभी भी अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है। इस सत्य को अपनाकर जो अपने में हैं, अपने हैं, उन्हीं को अपने को समर्पित कर सदा के लिए उन्हीं की प्रीति हो जाना अपना जीवन है। जो अपना जीवन है वही उनका स्वभाव है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब प्रभु-विश्वासी साधक अचाह-अप्रयत्न होकर सदा के लिए शरणागत हो जाय। शरणागति कोई अभ्यास नहीं है, अपितु विश्वास है। निज-ज्ञान से असंगता और आस्था, श्रद्धा, विश्वास से आत्मीयता स्वीकार करना रसरूप जीवन की प्राप्ति का अचूक उपाय है।

यदि अपने को 'अपना' प्रिय नहीं हो सकता, तो प्रियता की प्राप्ति का और कोई उपाय हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार निर्ममता के बिना निर्विकारता एवं निष्कामता के बिना चिर-शान्ति तथा असंगता के बिना जीवन-मुक्ति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार आस्था, श्रद्धा, विश्वास के बिना अखण्ड स्मृति तथा अगाधप्रियता सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से शीघ्रातिशीघ्र वर्तमान में ही पराधीनता, नीरसता एवं अभाव का अन्त करना है। आस्था, श्रद्धा,

विश्वासपूर्वक अपने में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाएँ, सफलता अवश्यम्भावी है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (17)

**मेरे निजस्वरूप, परमस्नेही साधक महानुभाव तथा सत्संग-प्रेमी भाई-बहन!**

निष्क्रिय दशा में यदि अनावश्यक कार्य का चिन्तन न हो, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से विधिवत् करने से कार्य के अन्त में स्वतः शान्ति का सम्पादन हो जाता है। किसी कार्य का चिन्तन नया कर्म नहीं है, अपितु किए हुए कार्य का परिचय है। उसका समर्थन अथवा विरोध न किया जाय, तो वह चिन्तन स्वतः निर्जीव हो जाता है और वास्तविक स्मृति जाग्रत हो जाती है। जिसके होते ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अपने अधिष्ठान में विलीन हो जाते हैं। फिर स्मृति ही साधक का जीवन हो जाती है। स्मृति जिसकी है उससे देश-काल की दूरी नहीं है, उसकी प्राप्ति वर्तमान में ही हो सकती है। स्मृति प्रीति होकर प्रियतम से अभिन्न हो जाती है और जिज्ञासा तत्त्वज्ञान से। इस दृष्टि से लक्ष्य की प्राप्ति में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है।

साधक के जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। असफलता का कारण साधक की एकमात्र अपनी भूल है। यह सर्वमान्य सत्य है कि प्रत्येक कार्य का आरम्भ तथा अन्त होता है। कार्य के अन्त में साधक और साध्य में दूरी-भेद-भिन्नता नहीं रहती; अर्थात् साधक को योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है। यह मंगलमय विधान है। पर यह रहस्य तब तक स्पष्ट नहीं होता, जब तक साधक का प्रत्येक कार्य साधनमय न हो और साध्य के नाते न हो। जब कर्ता एक है, तो उसका प्रत्येक कार्य एक ही लक्ष्य के लिए होना चाहिए। क्योंकि जब कर्ता एक है, तो लक्ष्य भी एक है। परिस्थिति की भिन्नता के कारण कार्यों में भिन्नता है। अतएव भिन्न-भिन्न कार्य एक ही भाव से व एक ही लक्ष्य के लिए करना चाहिए।

प्रभु-विश्वासी का प्रत्येक कार्य 'पूजा' है और अध्यात्मवादी का प्रत्येक कार्य 'साधना' है, तथा भौतिकवादी का प्रत्येक कार्य 'कर्त्तव्य' है। 'पूजा' का

अन्त प्रेम में, 'साधना' का अन्त साध्य की प्राप्ति में और 'कर्त्तव्य' का अन्त नित्य योग में स्वत: होता है। योग की पूर्णता बोध में और बोध की पूर्णता प्रेम में स्वत: होती है। अतएव समस्त साधकों की परावधि साध्य की अगाध-प्रियता में ही होती है, जो मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को साध्य की प्रियता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (18)

**मेरे निजस्वरूप, उपस्थित महानुभाव!**

हम सभी किसी-न-किसी दृष्टि से एक ही हैं। कोई गैर तथा और नहीं है। पर इस वास्तविकता को भूल जाने पर मानव अपने को परिच्छिन्नता में आबद्ध कर लेता है। उसका भयंकर परिणाम यह होता है कि उसे अपना भी अपना नहीं मालूम होता। और फिर वह अपनी ही भूल से सेवा, त्याग, प्रेम से विमुख होकर राग-द्वेष में आबद्ध हो जाता है। यह साधक की अपनी ही भूल है और कुछ नहीं।

साधक और साध्य में सदैव ही जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीय सम्बन्ध है। साधक में साध्य और साध्य में साधक ओतप्रोत हैं। साधक को साध्य से कुछ भी नहीं चाहिए। कारण कि साध्य की प्रियता के समान साधक में और कोई महत्त्वपूर्ण सत्य नहीं है। प्रियता साधक का जीवन और साध्य का सहज स्वभाव है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने वेदवाणी-गुरुवाणी के आधार पर साध्य को अपने द्वारा अपने ही में स्वीकार किया है। साध्य के अस्तित्व को, महत्त्व को स्वीकार करना साधक का परम पुरुषार्थ है और इस स्वीकृति को सजीव कर साधक के जीवन को सेवा, त्याग, प्रेम से भरपूर कर देना साध्य का सहज स्वभाव है। साध्य की इस महिमा को हम सभी स्वीकार करें और सदा के लिए साध्य के होकर रहें। साध्य के होकर रहने में ही साधक की स्वाधीनता है। इस मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग करना ही साधक का परम पुरुषार्थ है।

आप सब प्रभु के नाते मेरे अपने हैं, इस वास्तविकता में विकल्प नहीं होना चाहिए। विकल्प-रहित विश्वास ज्ञान के समान फलित होता है, ऐसा

प्रभु-विश्वासी साधकों का अनुभव है। यदि कोई साधक प्रभु-विश्वास को नहीं अपना सकता, तो उसे अपने जीवन में से समस्त विश्वासों को निकालकर एकमात्र ज्ञान के प्रकाश को अपनाकर, भूल-रहित होकर सदा के लिए अपने ही में प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो जाना चाहिए। इसी में जीवन की सार्थकता है। इसी सद्‌भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (19)

**प्रश्न—ब्रह्म की स्मृति कैसे जाग्रत हो?**

**उत्तर**—अन्त:करण पर ब्रह्म की छाप लगने पर ब्रह्म की स्मृति स्वत: जाग्रत होती है। ब्रह्म से जातीय एकता व स्वरूप की एकता उसी प्रकार है, जिस प्रकार समुद्र, लहर और जल की एकता है। ब्रह्म से समीपता 'योग' की प्रतीक है, एकता 'बोध' की और अभिन्नता 'प्रेम' की सूचक है।

भोग का फल मोह और आसक्ति है। अत: योग होने पर बोध और प्रेम स्वत: होता है। यही साधक के विकास की चरम सीमा है। साधक का जीवन योग, बोध, प्रेम हो जाय-यह साध्य की ही महिमा है। साध्य की यह महिमा सर्वकाल में है। इस महिमा से अभिन्न हो साधक साध्य से अभिन्न हो सकता है। इस प्रकार से साधक की साध्य से एकता हुई। फिर साधक में निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता स्वत: अभिव्यक्त हो जाती हैं।

**प्रश्न—शान्ति का अनुभव क्यों नहीं होता?**

**उत्तर**—साधक अपनी ही भूल से अपने को विकारों में, अशान्ति में, पराधीनता में, नीरसता में और अभाव में आबद्ध कर लेता है। जब साधक अपनी भूल-जनित दशा से पीड़ित होता है, तब अनन्त की करुणा उसे ज्ञान के प्रकाश से भूल-रहित होने की सामर्थ्य प्रदान करती है। भूल-रहित होते ही साधक का अस्तित्व साध्य की महिमा से अभिन्न हो जाता है, अर्थात् वह चिरशान्ति, निर्विकारता व जीवन-मुक्ति से भरपूर हो जाता है। जब साधक दु:ख-निवृत्ति यानी मुक्ति में सन्तुष्ट नहीं होता, तब उसे प्रेमास्पद अपना प्रेम प्रदान करते हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। प्रेमी और प्रेमास्पद का नित्य विहार ही विकास की चरम सीमा है। प्रेम स्वरूप से अनन्त, नित्य और

चिन्मय है। परन्तु प्रेमास्पद को रस प्रदान करने के लिए प्रेमास्पद का नित्य परिचय साकार होकर प्रेमास्पद को नित-नव रस प्रदान करता रहता है।

जब साधक को दुःख-निवृत्ति, चिर-शान्ति एवं जीवन-मुक्ति भी भाती नहीं है और उत्कट माँग केवल प्रेमास्पद को रस प्रदान करने की रहती है, तब प्रेमास्पद स्वयं अपना नित्य स्वभाव 'प्रेम' प्रदान कर देते हैं। यही उनका साकार रूप है। साधक का बोध तक अपना भाव होता है, उसमें अहं रहता है। योग में भी अहं रहता है। पर प्रेम में अहं नहीं रहता। यही साधना की परावधि है।

**ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (20)

**मेरे निजस्वरूप परम-स्नेही साधक महानुभाव!**

प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है, साध्य नहीं। साधन-सामग्री के सदुपयोग से साधक में स्वतः साधना की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् साधक का अस्तित्व साधना से भिन्न कुछ नहीं रह जाता। साधना सदैव साध्य से अभिन्न है, कारण कि साधना साध्य का स्वभाव तथा साधक का जीवन है। अब विचार यह करना है कि प्राप्त परिस्थिति के रूप में जो साधन-सामग्री साधक को मिली है, उसके सदुपयोग का वास्तविक अर्थ क्या है? प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही परिवर्तनशील तथा सुख और दुःख से युक्त है। जो सतत् परिवर्तनशील है, उसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती। जिसकी स्थिति नहीं है, उसके अस्तित्व को स्वीकार करना साधक की भारी भूल है। जब साधक असंगतापूर्वक अपने लिए शरीर और संसार के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, तब अनन्त की अहैतुकी कृपा से उसमें सभी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से असंग होने की सामर्थ्य आ जाती है। असंगता आते ही जो सदैव अपना है, अपने में है, अद्वितीय है, समर्थ है और अभी है, उससे अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नता में अनन्त रस है, जीवन है। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

अभिन्नता का क्रियात्मक रूप उदारता और अभिन्नता का विवेकात्मक रूप समता है तथा अभिन्नता अगाधप्रियता की जननी है, अर्थात् उदारता, समता और प्रियता साधन हैं और यही वास्तव में साधक का स्वरूप हैं। जब साधक अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, तब साध्य ही में सतत् वास करता है। इस वास्तविकता में विकल्प-रहित आस्था, श्रद्धा, विश्वास अनिवार्य

हैं। विकल्प-रहित आस्था से ही साधक में साध्य की माँग सबल तथा स्थायी होती है, जिसके होते ही साधक की भूल से उत्पन्न हुआ काम स्वत: नाश हो जाता है। जिसके होते ही दृष्टि दृश्य के बिना स्थिर तथा चित्त बिना आधार के शान्त हो जाता है। और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक साध्य की समीपता प्राप्त कर लेता है। साध्य की समीपता-जनित रस का भोग न करने पर साधक को साध्य से एकता प्राप्त होती है।

जब साधक साध्य की समीपता तथा एकता को पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता, तब उसमें स्वत: प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, जो साध्य का स्वभाव है तथा साधक का जीवन है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक सत्य को स्वीकार करें। इस दृष्टि से सत्य को स्वीकार करने में ही साधक के पुरुषार्थ की चरम सीमा है।

प्रत्येक साधक जानी हुई तथा की हुई बुराइयों से रहित होने पर भौतिकवादी दृष्टिकोण से 'एकता' प्राप्त करता है और ज्ञानपूर्वक अचाह तथा अप्रयत्न होने से अध्यात्म-जीवन से 'अभिन्न' होता है एवं आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता से उदित अखण्ड स्मृति तथा अगाधप्रियता से साधक आस्तिकवादी दृष्टिकोण से अपने प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। अर्थात् प्रेम और प्रेमास्पद के नित्य-विहार में उसका प्रवेश हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव सत्य को स्वीकार कर साधननिष्ठ हो जाता है। अत: प्रत्येक भाई-बहन को जाने हुए असत् के त्याग तथा सत् को स्वीकार करने के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

साधक, साधन और साध्य-इन तीनों में जातीय एकता है अथवा यों कहो कि साधक और साधना में साध्य की ही सत्ता है। साध्य की सत्ता में अविचल आस्था अनिवार्य है। जिसको प्राप्त करते ही साध्य की अखण्ड स्मृति स्वत: जाग्रत होती है। बोध, प्रेम और प्राप्ति स्मृति के ही रूप हैं, अर्थात् अखण्ड स्मृति में ही जीवन है, जिसकी माँग मानव-मात्र में जन्मजात विद्यमान है। वास्तविक माँग का अनुभव करने पर ही साधक को साध्य की प्राप्ति होती है, यह अनुभवसिद्ध सत्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को साधननिष्ठ होने की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

## (21)

**साधक महानुभाव!**

अपनी ही भूल से अपनी बरबादी होती है, यह सर्वमान्य सत्य है। सिद्धान्त रूप से कोई भी 'गैर' नहीं है, 'और' नहीं है। किसी-न-किसी नाते सभी अपने हैं और सभी में अपने प्रेमास्पद हैं। इस सत्य को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। जहाँ कहीं जो कुछ बुराई दिखाई देती है, उसका कारण केवल अपनी ही भूल है। भूल का कोई भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अपने सत्य को अपने द्वारा न मानना ही अपनी भूल है। यदि जीवन में भूल न होती तो हृदय में स्वभाव से सतत् प्रीति की गंगा लहराती और जीवन आनन्द-विभोर हो जाता, यह वैधानिक तथ्य है। प्रीति किसी व्यक्तिविशेष के प्रति नहीं होती, अपितु सभी में जो सभी के अपने हैं, उन्हीं में प्रीति होती है। वे ही प्रीति के अधिकारी हैं। व्यक्तियों के साथ तो सद्भाव ही रह सकता है। व्यक्ति को प्रीति से भिन्न भी कुछ चाहिए, इस कारण वह बेचारा प्रीति का पान नहीं कर पाता। पर यह रहस्य किन्हीं इने-गिने अकिंचन, निरभिमानी, प्रभु-विश्वासी, शरणागत साधकों को ही स्पष्ट होता है। भले कहलाने की रुचि रखने वालों को भी इस सत्य का बोध नहीं हो पाता।

बुराई-रहित होना सत्संग से साध्य है और भला हो जाना दैवी विधान है। भलाई सीखी नहीं जाती, सिखाई नहीं जाती। बुराई-रहित होने से भलाई स्वतः अभिव्यक्त होती है। बुराई-रहित होने से ही भलाई व्यापक होती है। अपनी भलाई का भास हो जाने पर भी भलाई "भलाई" नहीं रह जाती। तब सूक्ष्म रूप से बुराई का जन्म हो जाता है। उसका अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है। यह तभी सम्भव होगा जब साधक सजगतापूर्वक आत्म-निरीक्षण करे और अपने को समर्पण कर शान्त हो जाए। शान्ति सम्पादन से अहं शुद्ध होता है और फिर स्वतः साधक में उसकी बनावट के अनुसार साधना फलने-फूलने लगती है। इस दृष्टि से समर्पणपूर्वक शान्त रहना बहुत ही आवश्यक है।

अपने द्वारा अपने को समझा-बुझाकर बुराई-रहित कर लेना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। यदि यह कह दिया जाय कि मानव-जीवन का यह अन्तिम पुरुषार्थ है, तो अत्युक्ति न होगी। अपनी बुराई देखने का ज्ञान अपने में है, पर असावधानी के कारण उसका उपयोग हम दूसरों की बुराई देखने में करते हैं, जिसका बहुत बड़ा भाग अपनी कल्पना ही होती है, वास्तविक नहीं। वास्तविक

बुराई का ज्ञान तो अपने सम्बन्ध में ही सम्भव है और उसी से साधक सदा के लिए बुराई-रहित होकर सभी के लिए उपयोगी हो जाता है।

जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय, यही मानव की वास्तविक माँग है। इस माँग की पूर्ति अवश्य होती है। अचाह हुए बिना जीवन उपयोगी हो नहीं सकता। अचाह होने की स्वाधीनता अपने को प्राप्त है। अचाह होना ही जीवन में मृत्यु का अनुभव करना है। जीवन में मृत्यु का अनुभव होने पर अविनाशी, स्वाधीन जीवन की प्राप्ति होती है। अचाह होने के लिए बल का सदुपयोग, ज्ञान का आदर एवं आस्था-श्रद्धा-विश्वास में निर्विकल्पता अनिवार्य है। बल के सदुपयोग में प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग निहित है और ज्ञान के आदर में अवस्थातीत जीवन की प्राप्ति है और विकल्प-रहित विश्वास से आत्मीय सम्बन्ध, अखण्ड स्मृति तथा अगाधप्रियता की प्राप्ति होती है। परिस्थिति का सदुपयोग धर्म-विज्ञान है और अवस्थातीत जीवन में ही तत्त्वज्ञान है एवं प्रियता से ही जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

प्रत्येक मानव साधननिष्ठ होने में सर्वदा स्वाधीन है। पर सत्य को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। सत्य को स्वीकार करने पर सफलता अवश्यम्भावी है, इसी सद्‌भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (22)

**सत्संग-प्रेमी साधक महानुभाव!**

वेदवाणी तथा प्रभु-विश्वासी शरणागत साधकों से सुना है कि सर्व -समर्थ परमात्मा अद्वितीय, सदैव, सर्वत्र सभी के हैं; अत: अपने भी हैं। इस वास्तविकता को अपना लेने पर साधक सनाथ हो जाता है। किन्तु मूल प्रश्न यह है कि प्रभु को अपना मानना किस समस्या का निदान है? इससे पूर्व प्रत्येक साधक को यह भी भली-भाँति अनुभव करना चाहिए कि मेरी अपनी समस्या क्या है? समस्या उसे नहीं कहते जिसे अपने द्वारा हल कर सकते हों, अथवा जो स्वत: हल हो जाय; और समस्या उसे भी नहीं कहते जिससे निराश हो जाएँ। भूतकाल की भूलों से हृदय पीड़ित है, उसके परिणाम से बचने के लिए अपने में कोई बल नहीं है और वर्तमान में नीरसता, अभाव तथा

पराधीनता भाती नहीं है। यदि यह समस्या अपनी समस्या है, तो उसका उपाय एकमात्र प्रभु-विश्वासी साधक को यही मालूम होता है कि वह प्रभु की महिमा को अपनाकर प्रभु का हो जाय और यह स्वीकार करे कि मैं और किसी का नहीं हूँ, और कोई मेरा नहीं है। मैं स्वयं अपनी समस्या हल नहीं कर सका और उसके हल हुए बिना मुझे चैन नहीं है। अतएव प्यारे प्रभु ही मेरे अपने हैं और मैंने इसी महामन्त्र को अपनाया है। इससे भिन्न और कोई मेरे लिए उपाय नहीं है। सर्वसमर्थ एवं पतितपावन ने ही असमर्थ तथा पतियों को अपनाया है। सद्‍गुरु वाक्य कभी मिथ्या नहीं होता, यह शरणागत साधकों का अनुभव है।

इस दृष्टि से शरणागति ही एकमात्र मूल उपाय है। शरणागत को योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है, कारण कि उसमें अन्य विश्वास तथा अन्य सम्बन्ध की गन्ध भी नहीं रहती। इस उपाय से ही सभी असमर्थ साधकों का कल्याण हो सकता है। जब अपना और कोई नहीं रह जाता, तब स्वत: अखण्ड स्मृति एवं अगाधप्रियता की अभिव्यक्ति होती है। इतना ही नहीं, स्मृति तथा प्रियता से भिन्न शरणागत का कुछ और अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। प्रभु को अपना मान लेने से ही अपने में प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। प्रियता एक ऐसा अनुपम अलौकिक तत्त्व है जिसका आरम्भ तो होता है, पर अन्त नहीं। इस दृष्टि से प्रियता भी अविनाशी तथा अनन्त है। प्रेम और प्रेमास्पद के नित्य-विहार में ही जीवन की पूर्णता है। सर्व-समर्थ प्रभु के अस्तित्व, महत्त्व एवं अपनत्व को स्वीकार करना प्रभु-विश्वासी का परम पुरुषार्थ है। जिसने इसे अपनाया उसे फिर कुछ और करना-पाना शेष नहीं रहता, अथवा यों कहो कि जिसने शरणागति को अपनाया उसने सब कुछ पाया। शरणागति की साधना से अहंभाव रूपी अणु का नाश हो जाता है, जिसके होते ही सभी को सब कुछ मिल जाता है, और फिर किसी प्रकार का अभाव, पराधीनता एवं नीरसता शेष नहीं रहती, जो जीवन का लक्ष्य है।

शरणागति विश्वास है, अभ्यास नहीं। विश्वास विश्वासी का स्वरूप हो जाता है और उसमें सत्तारूप से एकमात्र विश्वासपात्र ही होते हैं, अर्थात् जिसमें विश्वास किया, वे ही रह जाते हैं। विश्वास से भिन्न विश्वासी का और कोई अस्तित्व नहीं होता। इस दृष्टि से विश्वास ही प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय है। प्रभु-विश्वास के समान और कोई महान् बल नहीं है। यदि यह कह दिया जाय कि प्यारे प्रभु भी विश्वास के अधीन हैं, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। कारण कि विश्वास में सत्ता उन्हीं की है, जिनका वह विश्वास है। सर्व-समर्थ प्रभु की प्राप्ति प्रभु की सत्ता से ही होती है। इस दृष्टि से प्रभु विश्वास ही प्रभु-प्राप्ति का अनुपम, अलौकिक एवं अद्वितीय उपाय है।

प्रभु-विश्वास की माँग जीवन की मौलिक माँग है। इस माँग की पूर्ति अवश्य होती है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने किसी प्रभु-विश्वासी के द्वारा प्रभु-विश्वास को स्वीकार किया है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से अपने शरणागतों को अपना विश्वास प्रदान करें, इसी सद्‌भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (23)

**प्रिय साधक महानुभाव!**

शरीर के द्वारा हमें वह नहीं मिला, जो हमारी माँग है। शरीर के बिना जो जीवन है, वही सभी को अभीष्ट है। उस जीवन के लिये शरीर की कोई अपेक्षा नहीं मालूम होती। शरीर के न रहने का जिन लोगों को भय है, वे विचार करें कि क्या शरीर को सदैव बनाये रखना सम्भव है? यदि सम्भव नहीं है, तो शीघ्र उस जीवन की माँग का अनुभव करना चाहिये अथवा खोज करनी चाहिये; जो शरीर के बिना सदैव ज्यों-का-त्यों है। जो शरीर से अतीत जीवन है, उसकी खोज शरीर के सहयोग से नहीं होगी।

अब विचार यह करना है कि शरीर के सहयोग के बिना हम क्या कर सकते हैं। हम अचाह हो सकते हैं, अप्रयत्न हो सकते हैं और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागत हो सकते हैं। अचाह होने का अर्थ केवल इतना नहीं है कि हमें वह नहीं चाहिये, जो शरीर और संसार की सहायता से प्राप्त होता है। बेचारा शरीर और संसार हमारी माँग की पूर्ति में लेशमात्र भी बाधक अथवा सहायक नहीं है। जब तक इस सत्य का अनुभव नहीं होता, तब तक शरीर और संसार से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता। और उसके बिना हुये साधक अपने को अपने में सन्तुष्ट नहीं कर सकता। अपने में सन्तुष्ट हुए बिना अपने को अपने प्रेमास्पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। अपने में सन्तुष्ट होना ही वास्तविक योग है। योग की पूर्णता में बोध और प्रेम निहित है। योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है।

शरीर का सदुपयोग प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग लोक-हित में भले ही हेतु हो, किन्तु उससे अपनी वास्तविक

माँग पूरी नहीं होती। वास्तविक माँग की तीव्र जागृति ही उसकी पूर्ति में हेतु है। वास्तविक माँग काम को खा लेती है। काम-रहित होते ही देह का तादात्म्य टूट जाता है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने को अपने में सन्तुष्ट पाता है। समस्त प्रयत्नों का फल अपने में अपने को सन्तुष्ट करना ही है। किसी भी परिस्थिति का अपने लिये आह्वान मत करो। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा उससे असंग हो जाओ। सफलता अवश्यम्भावी है। प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोग में ही साधक की स्वाधीनता है। परिस्थिति में जीवन-बुद्धि भारी भूल है।

जीवन तथा जीवनधन अपने में ही हैं, इस वास्तविकता में विकल्प मत करो। निर्विकल्प आस्था महान बलवती है। पर यह रहस्य प्रभु-विश्वासी शरणागत साधक को ही स्पष्ट होता है। शरीर के रहते हुये ही शरीर की आवश्यकता से मुक्त होने के लिये यथाशक्ति प्रयत्नशील रहो। प्रत्येक साधक को आवश्यक सामर्थ्य बिना ही माँगे मिलती है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है। प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोगी होने पर सामर्थ्य से अतीत जो जीवन है, उसमें स्वत: प्रवेश हो जाता है। अल्प या विशेष सामर्थ्य होने से साधननिष्ठ होने में कोई अन्तर नहीं आता; कारण कि अपने को जो चाहिये, वह सदैव अपने ही में है।

वास्तविकता में अविचल आस्था करो और लक्ष्य से निराश मत हो, अपितु लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उत्तरोत्तर नित-नव उत्साह बढ़ाते रहना चाहिये। उत्साहहीनता तथा निराशा के लिए साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

अत: सभी साधक महानुभाव साध्य की प्राप्ति के लिये अथक प्रयत्नशील रहें। सफलता अवश्यम्भावी है। इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (24)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

कर्त्तव्य-परायणता अर्थात् प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का यह शुभ परिणाम होना चाहिए कि साधक अपने में सन्तुष्ट हो जाय। यह वैधानिक तथ्य है कि अपने में जीवन तथा जीवनधन है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रखनी चाहिए। 'जीवन' जड़ता, अभाव, पराधीनता, नीरसता आदि दोषों से रहित है। उसी को जीवन कहते हैं। जीवन में चेतना है, स्वाधीनता है और सरसता है, जिसकी माँग साधक को स्वभाव से ही रहती है। जीवन की माँग से ही काम का नाश होता है और कामरहित होते ही देहाभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं, यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

साधकों को वास्तव में अपने लिए किसी भी काल में शरीर की आवश्यकता नहीं है। शरीर के सदुपयोग से परिवार, समाज एवं संसार के अधिकारों की रक्षा हो सकती है। इससे भिन्न शरीरों का कोई उपयोग नहीं है। शरीर का सदुपयोग साधक को विद्यमान राग से रहित कर देता है और विवेकपूर्वक असंग होने से फिर नवीन राग उत्पन्न ही नहीं होता। रागरहित भूमि में ही योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो साधक की वास्तविक माँग है, जिसकी पूर्ति होने पर साधक साध्य से अभिन्न हो जाता है। शरीर का सदुपयोग और उससे असंगता अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब साधक श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अपने ही में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करे। जिसकी वास्तविक माँग है, उसके अस्तित्व को स्वीकार करना सहज तथा स्वाभाविक होना ही चाहिए। माँग उसी की होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है; वही सभी साधकों का साध्य है।

जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, वह कभी किसी का साध्य नहीं हो सकता। यह सभी को विदित है, कि किसी भी परिस्थिति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतएव परिस्थति साधन-सामग्री हो सकती है, साध्य नहीं। साधन-सामग्री का सदुपयोग और साध्य की माँग की जागृति में ही साधक का परम पुरुषार्थ है, जिसकी स्वाधीनता प्रत्येक साधक को जन्मजात प्राप्त है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में असफलता तथा निराशा के लिए कोई स्थान नहीं है।

साध्य में अविचल आस्था न रखने से और परिस्थिति का सदुपयोग न करने से साधक असफल होता है। असफलता वैधानिक तथ्य नहीं है, अपितु साधक का अपना प्रमाद है, जिसकी निवृत्ति के लिए ही सत्संग-योजना है।

सत्य को स्वीकार करना ही सत्संग है। अपने में अपना प्रेमास्पद है-यह सत्य है। किसी भी परिस्थिति में जीवन नहीं है, यह विचारकों का अनुभव है। अपने में अपने प्रियतम हैं-यह आस्थावान साधकों की अवचिल आस्था है। विचार से संसार की निवृत्ति होती है और आस्था से प्रेमास्पद की प्राप्ति। इस दृष्टि से ज्ञान का आदर तथा निर्विकल्प आस्था साधक के जीवन में सदैव रहनी चाहिए। बल का उपयोग तो एकमात्र प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही हेतु है। इसके अतिरिक्त बल के उपयोग का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। 'मानव' संज्ञा प्रारम्भ ही तब होती है, जब साधक बल का दुरुपयोग नहीं करता। बल के सदुपयोग से बल का अभिमान गल जाता है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने में सन्तुष्ट होकर, अपने में परम प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

अपने में सन्तुष्ट हुए बिना कभी किसी को किसी भी प्रकार चैन से नहीं रहना चाहिए। अपने में सन्तुष्ट होने के लिए निर्मम, निष्काम तथा असंग होना अनिवार्य है, जो एकमात्र निज-ज्ञान से सिद्ध है। ज्ञान का आदर, बल का सदुपयोग और निर्विकल्प आस्था में ही जीवन का सार है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने साध्य की प्राप्ति को वर्तमान की आवश्यकता अनुभव किया है।

साधन साधक का स्वरूप और साध्य का स्वभाव है। सत्संग से साधक में साधन की अभिव्यक्ति होती है। अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्ति असत् के संग का ही परिणाम हैं। सत्संग से स्वत: साधक में साधन-परायणता आ जाती है। अत: सत्संग ही साधक का प्रथम और अन्तिम पुरुषार्थ है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी को सत्संगी बनाएँ, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (25)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

'मानव' है-किसी की सेवा, किसी का प्रेम। प्रेम श्रम-साध्य नहीं है, प्रेम का ह्रास नहीं होता। प्रेम के लेने में तृप्ति नहीं होती, देने में घटता नहीं, नित-नव बढ़ता ही रहता है। प्राण-शक्ति का नाश होता है, पर विश्वास का नाश नहीं होता। अपने द्वारा आपने यह स्वीकार किया कि प्रभु हैं, यहाँ से भजन का आरम्भ होता है। विश्वास इतना दृढ़ और स्वतन्त्र होना चाहिए कि शास्त्र आदि का प्रमाण भी न हो तब भी आप विश्वास करें कि 'प्रभु हैं' जीवन में से प्रभु-विश्वास न निकले, तब भजन होगा। जिसे कोई वस्तु, परिस्थिति आदि सुख नहीं दे पाती, वही भजन करता है। जिसके जीवन में निरपेक्ष रस की माँग है, वह प्रभु-विश्वास कर सकता है, भजन कर सकता है।

प्रेमियों की सूची में नाम लिखाने चलें और कामना साथ लेकर चलें, तो क्या प्रेम होगा? अपना मन रखकर क्या प्रेम होता है? कदापि नहीं। लोग ईश्वर को मानने चलते हैं, किसलिए? कि हमारी जो कामनाएँ हैं, वे पूरी हो जाएँ। यह ईश्वरवाद नहीं है। कामना-पूर्ति और मोक्ष चाहने वाला प्राणी ईश्वर-प्रेमी नहीं हो सकता, ईश्वर से प्रेम नहीं कर सकता। 'दिल देवे , सो दिलबर को पावे।' कामना-पूर्ति, निवृत्ति और मोक्ष-तीनों को जो छोड़ देता है, वही दिल दे सकता है। प्रभु से कह दो-मेरी इच्छा नहीं, तुम्हारी इच्छा पूरी हो। मुझे चाहे बन्धन में डालो, चाहे मुक्त करो, जो चाहो सो करो।' ऐसा दिल देने वाला भजन कर सकता है।

प्रभु को अपना मानो, इससे प्रियता बढ़ेगी। प्रियता न कभी घटेगी, न मिटेगी। यदि भगवान् का दर्शन नहीं होता है, तो इसमें भी एक रहस्य है। यदि दर्शन हो जाएँ, तो हम लोगों की प्रभु के प्रति प्रियता शिथिल हो जाएगी। यह भगवन् की विशेष कृपा है कि ध्यानी के ध्यान में से वे छिप जाते हैं, प्रेमी के बुलाने पर भी नहीं आते, छिपे से रहते हैं। हमारे न चाहने पर भी वे हमें चाहते हैं। हम भले ही उन्हें भूल जाएँ, पर वे हमें नहीं भूलते। इसलिए हम उन्हें अपना मानें, भजन हो जाएगा। जिसको सुख-भोग, दु:ख-निवृत्ति, स्वाधीनता भी नहीं चाहिए, केवल वही चाहिए जो प्रभु को चाहिए, तो भजन होने लगेगा। प्रभु के मन में अपना संकल्प मिला दो, बेमन के हो जाओ। प्रभु-विश्वास, सम्बन्ध और आत्मीयता ही तुम्हारा जीवन हो, तब भजन होने लगेगा।

जो स्वत: हो रहा है, जो तुम्हारा किया हुआ नहीं है, वह तो प्यारे प्रभु का किया हुआ है। 'प्रभु मेरे अपने हैं और वे अपने सदा रहेंगे-ऐसा विश्वास कर शान्त, निर्भय और निश्चिन्त हो जाएँ। भजन होने लगेगा, प्रियता बढ़ेगी। बिना कुछ भी चाहे, जो भगवान् को अपना मानता है, वही भजन कर सकता है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (26)

**साधक महानुभाव!**

वर्तमान की नीरसता से बड़ी क्षति होती है। नीरसता से काम का जन्म होता है, फिर वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि से सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसलिए नीरसता को शीघ्रातिशीघ्र मिटाना आश्यक है। जो किसी को भी दोषी नहीं मानता, उसके जीवन में दोष की उत्पत्ति नहीं होती। निर्दोष जीवन में ही प्रीति का प्रादुर्भाव होता है।

जो हमारे बिना रह सकता है, उस पर क्रोध मत करो, उससे द्वेष मत करो। किसी ने हमें दु:ख दिया है, यदि ऐसा प्रतीत हो, तो समझना चाहिए कि दु:ख देने वाला स्वयं दु:खी है, इसलिए उसने दु:ख दिया है। अत: वह क्षमा का पात्र है।

यदि हमसे किसी को कष्ट मिला है, तो उससे हमें क्षमा माँग लेनी चाहिए। सब प्रकार से निश्चिन्त व निर्भय हो जाने पर तथा संसार से सम्बन्ध-विच्छेद कर देने पर प्रभु से सम्बन्ध स्वत: हो जाता है। प्रभु से सम्बन्ध हो जाने पर भय, चिन्ता, नीरसता शेष नहीं रहते।

जिससे सुख मिलता है, उससे राग हो जाता है और जो सुख में बाधक बनता है, उससे द्वेष हो जाता है। अपने दु:ख का कारण अन्य को मानने से द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग और द्वेष दोनों ही के त्याग से जीवन में सत्य और अहिंसा का प्रादुर्भाव होता है। जहाँ सत्य है वहाँ अभाव नहीं है, और जहाँ अहिंसा है वहाँ नीरसता नहीं है। इस दृष्टि से सत्य और अहिंसा के अपनाने से जीवन पूर्ण और सरस बन जाता है। हिंसायुक्त जीवन में भोग है और अहिंसा के जीवन में योग है। इसलिए क्षमा माँगकर और क्षमा प्रदान कर वर्तमान जीवन को सरस बनाओ।

संसार के सम्बन्ध में तीन दृष्टियाँ हैं-भौतिक दृष्टि, आध्यात्मिक दृष्टि और आस्तिक दृष्टि। भौतिक दृष्टि से संसार प्राकृतिक विधान से संचालित सत्य प्रतीत होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह संसार मायामात्र है और आस्तिक दृष्टि से यह संसार प्रभु की लीला है। जो कुछ हो रहा है वह अनन्त के विधान से हो रहा है। उसमें हस्तक्षेप करना विधान-विरोधी कृत्य है।

जिस दिन आप निश्चिन्त व निर्भय हो जाओगे, उसी समय प्रभु आपको अपना लेंगे। अपने लिए त्याग, जगत् की सेवा और प्रभु से प्रेम को अपनाना ही हमारा परम पुरुषार्थ है। जिसने अपने को प्रभु के समर्पित कर दिया बिना किसी शर्त के, उसने सब कुछ पा लिया। यदि प्रभु से कुछ माँगना ही है, तो उनका प्रेम माँगो। उनका प्रेम लेकर उन्हीं का रस दो और कृतकृत्य हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (27)

**सत्संग-प्रेमी साधक महानुभाव!**

दु:ख के प्रभाव से जीवन में सजगता आती है और सजगता से वस्तु-स्थिति का परिचय मिलता है तथा साधन का निर्माण होता है। दु:ख घटना-जनित ही हो, ऐसी बात नहीं है। दु:ख विवेक-जनित भी होता है। संयोग वियोग में बदलता ही है, इस सत्य को अपनाते ही सुख में दु:ख का दर्शन होता है तथा सुख-भोग की रुचि का नाश होता है।

दु:ख का जीवन में बड़ा महत्त्व है। दु:ख के बिना जीवन का विकास नहीं हो सकता। इसलिए दु:ख का पूरा प्रभाव अपने जीवन में होने दो। दु:ख का प्रभाव दु:ख को खा लेता है तथा सुख-दु:ख से अतीत के जीवन में प्रवेश कराता है। पर हम अपने पर दु:ख का पूरा प्रभाव नहीं होने देते। एक सहारा छूटता है, तो दूसरा सहारा पकड़ लेते हैं। जब तक मानव सुख में दु:ख का दर्शन नहीं करेगा, तब तक दु:ख आता ही रहेगा, उसे कोई रोक नहीं सकता। जब दु:ख का प्रभाव पूरी तरह हो जाता है, तब दु:खहारी श्रीहरि स्वयं दु:ख हर लेते हैं। वर्तमान की वेदना ही भविष्य की सत्ता हो जाती है।

दु:ख के प्रभाव की पहचान क्या है? किसी भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थिति से सम्बन्ध न रहे; न किसी से कुछ आशा रहे। दु:ख का

प्रभाव और दु:ख के भोग में बड़ा अन्तर है। दु:ख का प्रभाव साधन है और दु:ख का भोग असाधन है। राग-द्वेष-जनित चिन्तन करना दु:ख का भोग है।

दु:ख का प्रभाव कैसे हो? दुखियों को देख करुणित होने तथा सुखियों को देख प्रसन्न होने से दु:ख का प्रभाव होता है। समस्त विकारों का मूल सुख-भोग का प्रलोभन है और समस्त विकास का मूल दु:ख का प्रभाव है। जहाँ जीवन में दु:ख का प्रभाव आया, वहाँ स्वत: सभी वस्तुओं, व्यक्तियों, अवस्थाओं व परिस्थितियों से सम्बन्ध स्वत: टूट जाता है। फिर दु:खी के जीवन में सुख की दासता नहीं रहती, दरिद्रता का नाश हो जाता है। निर्लोभता, निर्मोहता एवं उदारता की उसके जीवन में स्वत: अभिव्यक्ति होती है। उदारता से जीवन जगत् के लिए उपयोगी हो जाता है। निर्लोभता और निर्मोहता से जीवन अपने लिए उपयोगी हो जाता है।

निर्मोहता से सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति होती है, परिच्छिन्नता का नाश हो जाता है तथा स्वाधीनता की प्राप्ति होती है।

अत: दु:ख के प्रभाव से व्याकुलता की वृद्धि तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है, यह निर्विवाद सत्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधक भाई-बहनों को सुख-दु:ख के बन्धन से मुक्त कर परम स्वाधीन अविनाशी जीवन से अभिन्न कर दें, इसी सद्भावना के साथ आपको बहुत बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (28)

**मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!**

जहाँ तक हो सके, कुछ काल के लिए हम लोग शान्त हो जाया करें; कारण कि प्रत्येक कार्य के मूल में या श्रम के मूल में सभी क्रिया-रहित होते हैं। यानी श्रम के मूल में श्रम-रहित और श्रम के अन्त में श्रम-रहित होना, यह सभी का अनुभव है। प्रत्येक गति के मूल में स्थिरता और गति के अन्त में भी स्थिरता है। यह प्राकृतिक तथा वैज्ञानिक तथ्य है, कोई काल्पनिक बात नहीं है। इससे हम सबको यह समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक प्रवृत्ति के मूल में निवृत्ति यानी शान्ति होनी चाहिए और प्रवृत्ति के अन्त में भी शान्ति होनी चाहिए।

प्रत्येक संकल्प की उत्पत्ति से पूर्व और प्रत्येक संकल्प की पूर्ति के पश्चात् स्वभाव से निर्विकल्पता रहती ही है। इस निर्विकल्पता का नाम ही 'मूक सत्संग' है, जिससे आवश्यक शक्ति का विकास होता है।

सुनने के पूर्व हम शान्त हो जाएँ और सुनने के पश्चात् भी शान्त हो जाएँ। सुनने के पूर्व की शान्ति हमें सुनने की यथेष्ट सामर्थ्य प्रदान करेगी और श्रवण के अन्त में जो शान्ति होगी, वह सुने हुए को स्थिर कर देगी। इस दृष्टि से हम सबको प्रवचन के आरम्भ में और अन्त में शान्त रहना चाहिए।

यह जो शान्त रहना है, यह बहुत बड़ा साधन है। पर इस रहस्य को कोई बिरले ही जानते हैं। इसलिए जहाँ तक हो सके, हमें स्वभाव से ही शान्त रहना चाहिए। इसमें अहंकृति न लगाएँ अर्थात् 'हम नहीं बोलेंगे', ऐसी भावना भी न हो। अपितु सहज भाव से न बोलना, न सोचना, न देखना आ जाए, अर्थात् इन्द्रियों को भीतर-बाहर से शान्त रहने का स्वभाव बना लें, तो बहुत लाभ होगा।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (29)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

मानव-जीवन की तीन विभूतियाँ हैं-निश्चिन्तता, निर्भयता और प्रियता।

जो कुछ हो रहा है, वह मंगलमय विधान से हो रहा है-ऐसा मान लेने पर निश्चिन्तता आती है।

जो शरीर, प्राण आदि किसी भी वस्तु को अपना नहीं मानता, वह निर्भय हो जाता है।

जो 'है' वही मेरा अपना है-इसमें जिसने आस्था स्वीकार कर ली, उसी में प्रियता उदित होती है।

निश्चिन्तता से शान्ति; निर्भयता से स्वाधीनता तथा प्रियता से रस की अभिव्यक्ति होती है। यह मानव की माँग है।

जो नहीं करना चाहिए और जिससे नहीं कर सकते, उसके करने से, जो करना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है। इससे शान्ति मिलती है और फिर

स्वाधीनता प्राप्त होती है। स्वाधीनता को भी ठुकरा देने पर प्रेम की प्राप्ति होती है।

व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास के लिए मानव-सेवा-संघ एक साधन प्रणाली है। वर्तमान युग की साधन प्रणालियाँ आधुनिक पीढ़ी की दृष्टि से असफल सिद्ध हो रही हैं। साधन-दृष्टि से प्रत्येक के सामने एक मौलिक प्रश्न है कि साध्य की प्राप्ति कैसे हो? यदि हम साधक हैं, तो साध्य की प्राप्ति अभी-अभी होनी चाहिए। हमारा साध्य हमारे बिना नहीं रह सकता। वह हमारा साध्य हो ही नहीं सकता, जिसकी प्राप्ति में लेशमात्र भी सन्देह हो।

अब प्रश्न यह है कि हमारे जीवन में साध्य के प्रति आस्था कितनी है, उसमें प्रियता कितनी है! यदि कोई कहे कि ईश्वर है तो, पर उसकी आवश्यकता नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि साध्य में आस्था तो है, पर इतनी नहीं कि अन्य सभी छूट जाएँ। ऐसी दशा में मन साध्य में बलपूर्वक लगाना पड़ता है, स्वतः नहीं लगता। जब हम सभी कामनाओं को मिटा देते हैं, तब मन स्वतः साध्य में लग जाता है। जब कुछ कामनाओं को पूरा करना चाहते हैं और कुछ को मिटाना चाहते हैं, तब भी मन स्वतः नहीं लगता।

जिसके लिए हम सब कुछ दे देते हैं, उसी में आस्था रहती है। देश-भक्ति में आस्था होने से देश की रक्षा में प्राण भी दे देते हैं। साध्य के सम्बन्ध में यह विचार करना आवश्यक है कि अपने साध्य में विवेक का विरोध तो नहीं है? विश्वास के आधार पर साध्य का निर्णय होता है। साध्य से भिन्न सत्ता ही न स्वीकार करें, तो तत्काल सिद्धि मिलती है।

साध्य चाहे जैसा हो, विश्वासी साधक उस पर अपने को न्यौछावर कर देते हैं। जिन साधकों में साध्य के प्रति आस्था कम है, उनको प्रभु की महिमा की बड़ी आवश्यकता है। इसी प्रकार साधन के सम्बन्ध में भी साधक को देखना होगा कि उसमें आस्था और प्रियता कितनी है। जिस साधन में आस्था और प्रियता की कमी हो, उससे कालान्तर में भले ही सिद्धि मिल जाए, वर्तमान में नहीं मिल सकती। इसीलिए भाई, अपने साध्य और साधन में पूर्ण आस्था और प्रियता का होना अनिवार्य है।

साध्य की महिमा का विवेचन आप बुद्धि द्वारा नहीं कर सकते। अनन्त की हर चीज अनन्त है, महान् है और दिव्य है। आप ग्रन्थों में साध्य की महिमा पढ़ते और सुनते हैं, वह अल्प है। साध्य से अभिन्न होकर ही साध्य को जान पाओगे। साध्य से अभिन्न होने के लिए अपने साध्य और साधन में निस्संदेह होना ही पड़ेगा। जीवन और साधन में एकता न होने के कारण ही आज नित-नये सिद्धान्त, मत, प्रणाली, सम्प्रदाय बनते जा रहे हैं, पर मनुष्य

जाति की समस्या हल नहीं हुई। आवश्यकता इस बात की है कि अपने साध्य और साधन में गहरी निष्ठा, आस्था और प्रियता हो।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को अपने साध्य और साधन में आस्था और प्रियता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (30)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

परस्पर विचार-विनिमय के द्वारा साधक अपनी रुचि, योग्यता और सामर्थ्य के अनुरूप साधन का निर्माण करें। विचार-विनिमय का अर्थ है कि अपना दोष, अपनी दशा सामने रखें और सलाह लें।

साध्य में प्रियता उदित करने की योग्यता का नाम ही 'साधन' है। यह प्राप्त होता है, विचार-विनिमय के द्वारा। इसलिए विचार-विनिमय की जीवन में बड़ी आवश्यकता है। अब सोचना यह है कि हम और आप अपने-अपने सम्बन्ध में क्या जानते हैं और क्या मानते हैं? अपने सम्बन्ध में निर्विकल्प होने का अर्थ क्या है? मान लो, आपने निर्णय किया कि मुझे भक्त होना है। तो फिर आपको भगवान् के सम्बन्ध में सन्देह नहीं होगा। भगवान् में विश्वास होगा, उनमें मन लगेगा, उनसे मन हटेगा नहीं। भक्त सभी हो सकते हैं। दीन से दीन, पतित से पतित भी भक्त हो सकता है। अतः हम भक्त हो ही सकते हैं।

साधन-दृष्टि से जीवन का मौलिक प्रश्न यह है कि अपने में विकल्प-रहित निर्णय होना चाहिए। साधक की पहचान यह है कि जिसके रोम-रोम में अपने साध्य की ही सत्ता हो, भिन्न का अस्तित्व ही न हो। क्या वह भी साधक है, जिसके पास अपना मन हो, जिसके पास अपनी बुद्धि हो? कदापि नहीं।

जिससे सुख की आशा करते हैं, उससे राग हो जाता है और जिसे अपने दुःख का कारण मानते हैं, उससे द्वेष हो जाता है। साधक के जीवन में राग-द्वेष के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इसलिए साधक को किसी से सुख की आशा नहीं होती और न वह किसी अन्य को अपने दुःख का कारण ही

मानता है। इसके लिए उसे वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थिति से सम्बन्ध-विच्छेद करना होगा। तब विकार की उत्पत्ति ही नहीं होगी। संसार दृष्टि में नहीं रह जाएगा।

हमारे प्यारे प्रभु की यह महिमा है कि आप जिस आकृति में रुचि रखते हैं, उसी आकृति में वे मिल लेते हैं। अपन सर्वस्व देकर चाह-रहित होकर बिना किसी शर्त के चाहे किसी से प्रेम कर लो, भगवान् मिल जायेंगे। क्योंकि प्रेम उनका स्वभाव है, प्रेम उनका जीवन है। यह उनकी महिमा है कि वे अपने प्रेम को देकर स्वयं ही उसमें बँध जाते हैं।

साधक होने के किए अपने सम्बन्ध में विकल्प-रहित हो जाओ। जब आप अपने सम्बन्ध में विकल्प-रहित हो जाओगे, तो अपने साध्य में आस्था, महिमा और प्रियता स्वत: विकल्प-रहित हो जाएगी। ध्यान करने का प्रश्न जीवन में कब आता है? जब ध्यान नहीं होता, तब ध्यान लगाना पड़ता है। बुद्धि-दृष्टि से विवेक के प्रकाश में देखने पर मालूम होता है कि ध्यान उसी का आता है, जिसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। इसलिए जड़-जगत् को ध्यान में-से निकाल दो, तो भगवान् में ध्यान लग जाएगा।

आपकी इस स्वीकृति से कि 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान मेरे हैं'-इससे पूर्व की सभी स्वीकृतियाँ विस्मृत हो जाएँगी, सब सम्बन्ध टूट जाएँगे, निर्वासना आ जाएगी; वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाएगा। इनसे सम्बन्ध टूट जाने पर प्रभु से सम्बन्ध हो जाता है। 'मैं भक्त हूँ'-यह मान्यता साधनरूप है। निवार्सना आने पर यही जीवन बन जाती है, जोकि साधन की सिद्धि है। परन्तु इसके लिए अपने साधन के सम्बन्ध मे निर्विकल्पता आवश्यक है। 'सत्य' असत्य का नाशक नहीं है, वरन् प्रकाशक है। आस्था की दृढ़ता होने पर प्रभु बिना बुलाए ही आ जाएँगे-इसमें दृढ़ आस्था करो।

कामना-रहित हुए बिना सत्य का अनुसरण हो ही नहीं सकता। परन्तु व्यक्ति कामना भी रखता है और सत्य की लालसा भी रखता है। ऐसी दशा में उसको किसी के शरणागत होना चाहिए! तब वे परम दयालु, परम सुहृद्, अपने ऊपर कलंक लेकर तुम्हारे मन की कामना पूरी करा देंगे और निवृत्त भी करा देंगे तथा तुम्हें अपना भी लेंगे। फिर वे तुम्हें अपने से भी बड़ा बना देंगे। ऐसा 'एक' परम सुहृद् हम सभी का है। ऐश्वर्य और माधुर्य की माँग हम सभी की है। ईश्वरवादी को भी और अनीश्वरवादी को भी, सभी को ऐश्वर्य की माँग है। फिर भी यह माँग कामनाओं के कारण शिथिल है। सुख का प्रलोभन

और दु:ख का भय हमारी माँग को शिथिल बना देते हैं। इसलिए किसी भी प्रकार के प्रलोभन की आवश्यकता नहीं है।

जीवन में से प्रलोभन का नाश कैसे हो? जीवन को यदि प्रभु के लिए, जगत् के लिए उपयोगी बना दिया जाए, तो प्रलोभन मिट जाएगा।

जो चाह-रहित हो जाता है, वही सबके लिए उपयोगी हो सकता है। सर्व-समर्थ प्रभु आपको चाह-रहित होने की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (31)

**मेरे निजस्वरूप परम-स्नेही साधक महानुभाव!**

चाह-रहित होने का अर्थ केवल इतना ही है कि अपने आपको सभी के लिए समर्पित कर दो; क्योंकि जो सभी के लिए नहीं है, वह प्रभु के लिए भी नहीं होता।

ऐसा कौन है, जिसके मन में सभी के लिए हित की बात है, हित का भाव है? उससे भी अहित नहीं होता, जिसने उसका अहित किया है। वह वही है, जो चाह-रहित है। दूसरों के दिए हुए दु:ख को सहर्ष सहते हुए मन में यह भाव रहे कि हे प्रभु! दु:ख देने वाले का अहित न हो, उसका भला हो। उसका भला हो जाएगा, तो उसमें दु:ख की प्रवृत्ति नहीं होगी; क्योंकि दु:खी होकर ही आदमी किसी को दु:ख देता है। इसलिए सबके हित का भाव रखो, किसी से कुछ मत चाहो। तब तुमसे किसी को भय नहीं होगा और न तुम्हें कोई भयभीत कर सकेगा। क्योंकि जो तुमने दिया नहीं है, वह तुम्हें मिलेगा कैसे?

अत: साधन में अस्वाभाविकता और असिद्धि नहीं है। किसी से कुछ न चाहें और किसी का अहित न करें, तो भक्त को भगवान्, अशान्त को चिर-शान्ति और दु:खी को दु:ख-निवृत्ति मिल जाएगी। परन्तु आज साधन हमारे जीवन का बोझ मालूम होता है। साधन और जीवन में तो इतनी स्वाभाविकता आ जानी चाहिए कि उसका भास ही न हो। पर आज साधन में श्रम क्यों मालूम होता है? इसलिए कि साधन की आवश्यकता नहीं है, साधन में प्रियता नहीं है; जिसकी सेवा कर रहे हैं, उसको अपना नहीं मानते।

जो साधन को अस्वाभाविक ढंग से करेगा तथा जो साधन सिखाने को ही साधन मानेगा, उससे बहुत बड़ा असाधन होगा। इसलिए साधन की अभिव्यक्ति जीवन में से होनी चाहिए, तब साधन में स्वाभाविकता आएगी। यह तब सम्भव होगा जब भय और प्रलोभन का नाश हो जाए। यह स्वीकार कर लें कि अपने पास जो कुछ है, वह किसी से मिला हुआ है तथा जो नहीं मिला है, उसकी कामना न करें। मिले हुए का दुरुपयोग मत करो, उससे देने वाले की पूजा करो।

पूजा का अर्थ है कि भगवान् के दिए मन को भगवान् में लगाएँ। जिस तन से सेवा हो रही हो, वह तन उसी का है, उसके तन से उसकी सेवा हो रही है। इन्द्रिय व बुद्धि ज्ञान से भी कोई 'और' नहीं है, जिसने दिया है वही है। उसी ने प्रेम, विश्वास, विवेक, सामर्थ्य, वस्तु आदि दी हैं। उसकी दी हुई वस्तु उसी को दे दो। किसके लिए? प्रभु-प्राप्ति के रस के लिए। उनका दिया हुआ सब कुछ उन्हीं को समर्पित कर दो।

किसी भी वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, क्योंकि हमें उसका ज्ञान है। अपना अस्तित्व किसी के सम्बन्ध, विश्वास और प्रेम के रूप में है। यह सम्बन्ध, विश्वास और प्रेम भी उसी का दिया हुआ है। यदि ऐसा न होता, तो हममें सम्बन्ध, विश्वास और प्रेम कहाँ से आता? वह हमें अपना न मानता, तो हम कैसे उसको अपना मानते? इसलिए भाई, अपने में अपना करके कुछ नहीं है।

जो लोग अपने को 'ब्रह्म' मानते हैं, यह भी विश्वास है और जो अपने को 'जीव' मानते हैं, यह भी विश्वास है। किन्तु जो लोग अपने को 'देह' मानते हैं, यह विश्वास विवेक-विरोधी है। जिस विश्वास में विवेक का समर्थन न भी हो, परन्तु विवेक का विरोध न हो, तो वह विश्वास साधनरूप मान्य होता है।

हमें ऐसे जीवन की माँग नहीं है, जिसमें रस और सामर्थ्य न हो। हमारी माँग सामर्थ्य, अमरत्व और रस से परिपूर्ण जीवन की है। किसी को अपना मानने में हम सब स्वाधीन हैं। प्रभु हमारे हैं और उनकी आत्मीयता और विश्वास हमारा जीवन है। प्रभु को अपना मानने में कोई कठिनाई या पराधीनता नहीं है। कोई कहे कि हम तो 'अपनी' सत्ता मानते हैं; तो उसमें आत्मरति की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। यदि कोई कहे कि हम तो जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं, तो उसमें विश्व-प्रेम की अभिव्यक्ति होनी चाहिए।

किसी भी दृष्टि से देखा जाए, तो विश्वास, आत्मीयता और प्रेम ही जीवन मालूम होता है। दर्शन-भेद से नाम बदल जाता है। जीवन एक ही रहा।

पहला साधन हुआ-साध्य की सत्ता स्वीकार करना। आत्मीयता और विश्वास जिसमें है, वही तुम्हारा साध्य है। प्रियता से साध्य और साधक दोनों को रस मिलता है। इसमें कोई भी परिस्थिति बाधक नहीं है। प्रत्येक परिस्थिति में आत्मीयता और प्रियता प्राप्त कर सकते हैं। किसकी? जिसकी हमें प्यास है।

मानव जीवन किसी कर्म का फल नहीं है, वरन् अनन्त की कृपा-शक्ति से निर्मित है। इस जीवन का आरम्भ किसी की उदारता में निहित है। मिली हुई वस्तु को अपना मानकर व्यक्ति दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध होता रहता है। अपने में जब तक दीनता और अभिमान है, तब तक प्रभु में विश्वास नहीं हो सकता। दीनता और अभिमान मिटेगा, किसी भी वस्तु को अपना न मानने से। विचारशील साधक, प्रभु-विश्वासी साधक और भौतिक दर्शन का ज्ञाता-ये तीनों किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानते।

यह देने वाले प्रभु की दयालुता है कि उनके ही सामने व्यक्ति उनकी दी हुई वस्तुओं का दुरुपयोग करते हैं, फिर भी वे वस्तु देना बन्द नहीं करते। ऐसे कृपालु प्रभु को हम अपना नहीं मानते, यह कितनी दु:खद बात है!

यदि आपके पास अपना करके कुछ है, तो आप भगवान् को अपना नहीं कह सकते। यदि आपके पास अपना करके कुछ नहीं है, तो आप भगवान् को अपना कह सकते हैं, और यही जीवन का सत्य है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (32)

**साधक महानुभाव!**

वस्तुओं को ममता छोड़ते ही समता आती है, योग होता है, सामर्थ्य आती है, स्वाधीनता आती है, और प्रभु-प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इसका साधन क्या है? जो वस्तुएँ मिलीं हैं, वे अपनी नहीं हैं। जो वस्तु मिली है, वह अपनी नहीं है- इस स्वीकृतिमात्र से निर्विकल्पता आ जाती है। जब हमारी कोई वस्तु व्यक्तिगत है ही नहीं, तो प्रभु हमारे हैं, और अपने हैं- इसको स्वीकार करने में क्या कठिनाई है! प्रभु हमारे हैं और उनमें हमारी प्रियता है, इससे जीवन प्रतिपल सरस होगा। सरस जीवन में कामनाओं की उत्पत्ति होती ही नहीं।

भगवान् के मन की बात पूरी करने के लिए मानव जीवन मिला था। पर अपने मन की बात पूरी करने लगे, यही हमारी भूल है। प्रतीति इन्द्रियों का विषय है, पर भगवान् इन्द्रियों का विषय नहीं हैं। भगवान् सबको प्राप्य हैं। पर प्रभु-प्राप्ति की प्यास नहीं है, इसलिए उसे छोड़कर दूसरी वस्तुओं की प्राप्ति का प्रयास करते हैं। सही काम करो, पर उसका फल मत चाहो। तब उसके बदले में प्रभु-प्रेम मिलेगा! कर्म का फल तो स्वत: उसी प्रकार मिलेगा, जैसे कि फलदार वृक्ष को खरीदने पर छाया और हवा अपने आप मिल जाती है।

आज जो मूल बात है वह यह है कि अपने जीवन में यह दो बातें उतार लो- अप्राप्त जगत् अपना नहीं है, प्राप्त प्रभु अपना है। जो वस्तु प्राप्त जैसी मालूम होती है, उसके द्वारा प्रत्येक प्रवृत्ति प्रभु-पूजा बन जाए। प्रेमी को प्रभु-पूजा के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना है। मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग न करने से प्रभु-प्रेम की प्राप्ति होती है। अपने लिए तप करना भी भोग है। पर प्रभु के लिए झाड़ू लगाना भी पूजा है।

साधन का सार यह है कि साधक साधननिष्ठ होकर साध्य को रस प्रदान करे। तो साधक का जीवन हुआ-साध्य को रस देना। यह नियम है कि जो जिसको उत्पन्न करता है, वह उसके लिए रस-रूप हो जाता है। हमारे साध्य ने हमें उत्पन्न किया है, इसलिए हम उसके लिए रसरूप हैं, इसमें सन्देह नहीं है। जिसने हमें बनाया है और साधन-सामग्री दी है, क्या उसे हमारी पूजा रस नहीं देगी? हमारा जीवन प्रभु ने अपने रस सम्पादन के लिए बनाया है।

हममें दिन-रात यह सजगता बनी रहे कि प्रभु को हमसे रस मिलता रहे, यही हमारा जीवन है। हे प्रभु! तुम्हारी इच्छा पूरी हो। जब आपका अपना मन ही नहीं है, तो बन्धन कैसा? बन्धन और मोक्ष का प्रश्न उन्हीं के सामने है, जिन्होंने सुने हुए प्रभु पर अपने को न्यौछावर नहीं किया तथा जिन्होंने विवेकपूर्वक वस्तुओं की ममता का त्याग नहीं किया। जिस किसी ने सुने हुए प्रभु पर अपने को न्यौछावर कर दिया है और विवेकपूर्वक वस्तुओं की ममता का त्याग कर दिया है, उसके सामने बन्धन और मोक्ष का प्रश्न की नहीं है।

भाई! मन को अपना मत मानो। अपने मन को चाहे जिसे दे दो। तब स्वत: शक्ति, मुक्ति और भक्ति मिलेगी। बेमन का जीवन संकल्प-विकल्प तथा नि:संकल्पता-इन तीनों से अतीत है। बेमन के जीवन की विभूतियाँ हैं-पराधीनता का अभाव, स्वाधीनता, अमरत्व और सरसता। जिसने हमें बनाया है, उसने हमें यह स्वाधीनता भी दी है कि हम दिव्य-चिन्मय जीवन प्राप्त कर

सकते हैं। वस्तु की चाह भूल-जनित है। यह तुम्हारा वास्तविक जीवन नहीं है। इस चाह-रूपी भूल को मिटा सकते हो। इसका दायित्व तुम पर ही है, किसी और पर नहीं। इसको कठिन मत मानो। मन उस अनन्त की अनुपम विभूति है। आप उसकी निन्दा भी मत करो। क्रोध नहीं आएगा, तो विस्मृति का दोष नहीं होगा। पराए कर्तव्य की स्मृति में अपने कर्तव्य की विस्मृति है।

कोई एक साधन सहजभाव से अपना लीजिए। श्रमरहित साधन तब होगा, जबकि पहले साधन का निर्माण कर लिया जाए। साधन-निर्माण के लिए तीन बातों का अपनाना अनिवार्य है-(1) सुने हुए प्रभु में अविचल आस्था-श्रद्धा और विश्वास तथा उन्हीं के होकर रहना। (2) अपने दु:ख का कारण किसी और को न मानना। (3) किसी से सुख की आशा न करना।

अपनी निर्बलता का ज्ञान हो और अपने को निर्बल मानते हो तो अनन्त की निर्भरता स्वीकार करनी चाहिए। निर्भर हो जाने पर अनन्त से आत्मीयता स्वत: हो जाती है। तब जीवन में असफलता के लिए स्थान ही नहीं रहता। जीवन में दो ही बातें हो सकती हैं, चाहे वस्तुओं की ममता का त्याग अथवा अनन्त की निर्भरता तथा प्रियता। अनन्त की निर्भरता तथा प्रियता से निर्बल-से-निर्बल भी अनन्त से बल प्राप्त कर सकता है।

जीवन में कठिनाई तब आती है, जब हम प्राप्त बल के द्वारा सुख भोग करने लगते हैं। संसार हमारे मन का हो जाए, भगवान् हमारे मन के हो जाएँ-यही सबसे बड़ी निर्बलता है। मन की बात पूरी न होना तो निर्बलता है ही, पर मन की बात पूरी हो जाना बड़ी भारी निर्बलता है, कारण कि जिन साधनों से हमारे मन की बात पूरी होती है, उन्हीं साधनों पर हम आश्रित हो जाते हैं। वे साधन ऐसे नहीं हैं कि जिनसे हमारा नित्य सम्बन्ध हो। उन साधनों के आश्रित होने में पराधीनता है। इस पराधीनता का ज्ञान जिसको हो जाता है तथा जो पराधीनता के दु:ख से दु:खी हो जाता है, उसका सम्बन्ध वस्तुओं से नहीं रहता। तब जो होना चाहिए, वह स्वत: होने लगता है और जो नहीं होना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती।

किसी एक निर्बलता के आने से अनेक निर्बलताएँ आ जाती हैं और मौलिक निर्बलता के मिटने से सारी निर्बलताएँ मिट जाती हैं। पराधीनता का नाश किसी वस्तु, व्यक्ति परिस्थिति के आश्रय से नहीं हो सकता। इससे साफ मालूम होता है कि किसी वस्तु, व्यक्ति परिस्थिति का सम्बन्ध अपने लिए नहीं है, अथवा उनसे नित्य सम्बन्ध नहीं है। अपने में इनसे अतीत के जीवन की

माँग है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो स्वयंप्रकाश हो, इसलिए वस्तु जगत् के काम आएगी, शरीर जगत् के काम आएगा, क्योंकि शरीर और वस्तु जगत् की जाति के हैं। आप सभी साधननिष्ठ बनें, इसी सद्भावना के साथ।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (33)

**साधक महानुभाव!**

सत्संग का अर्थ है कि अपना जाना हुआ असत् निकल जाए। सबसे बड़ा असत् जो जीवन में ठहरा हुआ है, वह है-शरीर की ममता। इस पर विचार करके देखिये कि शरीर आपके किस काम आएगा। उसकी ममता करने से वह पराधीनता ही देगा, इस बात को हम सब जानते हैं। फिर भी हम शरीर को अपना मानते हैं, उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं, यह बड़ी भारी पराधीनता है। यह पराधीनता आई है अविवेक से, भूल से, विस्मृति से और असत् के संग से। हम पराधीनता में ही जीवन-बुद्धि रखते हैं।

भगवान् के हम भक्त हो जाएँ, जगत् से अतीत का जीवन प्राप्त हो जाए, इससें प्रसन्नता नहीं अनुभव करते। मन की बात पूरी करने में जीवन-बुद्धि रखते हैं। यह जीवन का सबसे काला समय है।

दिनभर हम करते क्या हैं? संकल्प-पूर्ति में लगे रहते हैं। विचार करने पर मालूम होगा कि पराधीनता सबसे बड़ी निर्बलता है जीवन में। उसकी उत्पत्ति अविवेक से हुई है। निज-विवेक से यह स्पष्ट मालूम होता है कि पराधीनता गुण नहीं, दोष है। कामनापूर्ति का प्रलोभन ही पराधीनता है और यही हमारी निर्बलता है। कामना-अपूर्ति की वेदना पराधीनता से मुक्त कराती है। मैं जो चाहता हूँ सो हो जाए, यही पराधीनता है, यही निर्बलता है।

आज का गुरु इतना पराधीन हो गया है कि यदि शिष्य बात न माने, तो गुरु बैचेन हो जाता है; पर आदर, मान और पूजा चाहता है। इतनी दयनीय दशा हो गई है! कारण, कि हम कामना-पूर्ति चाहते हैं और कामना-पूर्ति के लिये किसी-न-किसी वस्तु के साथ अपने को तद्रूप कर लेते हैं।

वस्तु ने हमसे कभी सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया। हमने ही उससे ममता कर ली है। आपको ज्ञान मिला है। उस ज्ञान से यह सिद्ध है कि तुम्हारा

सम्बन्ध वस्तु से नहीं है। जीवन का यह प्रश्न है कि तुम क्या हो? पर इतना तो अनुभव-सिद्ध है कि तुम वस्तु नहीं हो। यह पराधीनता जो जीवन में आ गई है कि संसार और परमात्मा मिलकर हमारे मन की बात पूरी कर दें अर्थात् दूसरे लोग हमारे काम आ जाएँ, तो जीवन में पराधीनता, जड़ता और अभाव रहेगा ही। भाई, परमात्मा ने हमें अपने काम आने के लिए बनाया है, हम उनके काम आएँ। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए, तो जीवन में पराधीनता नहीं रहेगी। परमात्मा से आपकी उत्पत्ति हुई है और आपमें परमात्मा की ही सत्ता है। परमात्मा ने हमें और आपको अपने खेलने के लिये बनाया है। अगर हम उनसे काम लेना चाहते हैं, तो यह हमारी निर्बलता है। इस निर्बलता को मिटाने के लिए हमें परमात्मा के निर्भर होना पड़ेगा। जिसने हमें उत्पन्न किया है, यदि हमारा जीवन उस अनन्त के निर्भर हो जाए, तो इसमें हमारी कोई विशेषता नहीं है। वे जैसा चाहें हमारा उपयोग करें। इस निर्भरता में उनसे आत्मीयता होगी और प्रियता की अभिव्यक्ति होगी।

जिसने हमारा-आपका निर्माण किया है, उसने हमें यह स्वाधीनता भी दी है कि हम दिव्य-चिन्मय जीवन को प्राप्त कर सकते हैं। वस्तु-युक्त जीवन तुम्हारा वास्तविक जीवन नहीं है। वस्तु की चाह तुम्हारी उपजाई हुई भूल है, उसे तुम मिटा सकते हो। इसका दायित्व तुम पर ही है, और किसी पर नहीं। इसे कठिन काम मत समझो। यदि इसे कठिन मानोगे, तो वर्तमान में कभी सिद्धि नहीं मिलेगी।

मन उस अनन्त की विभूति है। आप उसकी निन्दा मत करो। किसी को अपने दु:ख का कारण मत मानो और सिद्धि में सन्देह मत करो। फिर क्रोध नहीं आएगा और अपने स्वरूप की विस्मृति नहीं होगी। किसी भी एक साधन को अपना लीजिए। ऐसा श्रमरहित साधन कब होगा? जबकि पहले सत्संग द्वारा साधन-निर्माण करें। सुने हुए प्रभु में अविचल आस्था, उन्हीं का होकर रहना, अपने दु:ख का कारण किसी और को न मानना और किसी से सुख की आशा न करना साधन है। इस सत्य को स्वीकार करने पर सफलता अवश्यम्भवी है, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

## (34)

**सत्संग-प्रेमी साधक महानुभाव!**

प्रार्थना प्रत्येक प्राणी की निधि है। प्रार्थना के बिना अपनी माँग की जानकारी नहीं होती। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जिसमें साध्य और साधन की माँग न हो। अर्थात् सभी में कुछ-न-कुछ माँग है। और जिसमें माँग है, वही प्रार्थी है। प्रार्थी और प्रार्थ्य अर्थात् माँगने वाला और देने वाला, दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है और परस्पर में रस का आदान-प्रदान है। प्रार्थना का दार्शनिक अर्थ क्या है? जिसके जीवन में प्रार्थना जगती है, उसी में स्तुति और उपासना भी आती है। स्तुति का अर्थ है, किसी की महिमा में आस्था-श्रद्धा करना। उपासना का अर्थ है, किसी से स्थायी सम्बन्ध स्थापित करना। भौतिकवादी की प्रार्थना चिर-शान्ति और विश्व-प्रेम के लिए, अध्यात्मवादी की प्रार्थना आत्मरति के लिए तथा ईश्वरवादी की प्रार्थना प्रभु को रस देने के लिए होती है।

सबसे आसान काम है, प्रभु की प्राप्ति। जो साधन कर सकते हो, उसी से परमात्मा प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु हम चाहते हैं, संसार का भोग। भोग करने वाले को परमात्मा कभी नहीं मिलता। जो भगवान् को चाहता है, उससे भगवान् कभी अलग हुए नहीं। पराधीनता का ही दूसरा नाम भोग है। जिसने प्राणों के रहते ही भोग-वासनाओं को त्याग दिया, उसका तीनों शरीरों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। यही मोक्ष है। इसी से चिर-शान्ति और स्वाधीनता प्राप्त होती है।

प्रेम और जिज्ञासा की जागृति सुख-लोलुपता तथा दुःख के भय के त्याग से स्वतः होती है। हमारे और प्रभु के बीच दूरी केवल विस्मृति के कारण भासती है, वास्तव में है नहीं। विस्मृति का नाश स्मृति से होता है, किसी अभ्यास से नहीं। राग, मोह, आसक्ति की निवृत्ति और योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति युगपद् होती है। योग में बोध और बोध में प्रेम समाहित है। योग की माँग सबल होने पर भोग की रुचि नाश होती है, अथवा भोग की रुचि नाश होने पर योग की प्राप्ति होती है। जो नहीं है, उससे नाता तोड़ने पर, जो है, उससे नाता स्वतः हो जाता है। जो है, उसी को अपना मानो और किसी को अपना मत मानो, तो 'है' से सम्बन्ध हो जाता है, 'नहीं' से सम्बन्ध तोड़ने के लिए 'नहीं' को पसन्द मत करो, 'नहीं' का समर्थन या विरोध भी मत करो अर्थात् नहीं से असहयोग करो!

प्रत्येक मानव साधक है, पर आत्मा और शरीर साधक नहीं हैं। आत्मा और परमात्मा की जिज्ञासा और अनात्मा की कामना जिसमें है, वही मानव है। भूल जाने हुए की होती है। जो भूलता है, वही अपनी भूल का अनुभव कर,

उसे मिटा सकता है। इसके लिए उसे विवेक मिला है। विवेक में ही कर्त्तव्य-विज्ञान निहित है, जो बल के सदुपयोग की प्रेरणा देता है। बल का सदुपयोग कर्त्तव्य-विज्ञान का मूर्तिमान चित्र है, जो राग-रहित कर योग प्रदान करता है। योग कर्त्तव्य-विज्ञान का उत्तर पक्ष है। योग से अध्यात्म-विज्ञान में प्रवेश होता है।

जिसने ज्ञानपूर्वक अनुभव किया कि इतने बड़े संसार में मेरा करके कुछ भी नहीं है, उसी ने स्वाधीनता पाई। स्वाधीनता का अर्थ है, 'स्व' अर्थात् अपने के अधीन। आस्तिक प्रभु की रजा में राजी रहता है, अत: वह भी स्वाधीन है। किसी भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति के आश्रित रहना स्वाधीनता नहीं, घोर पराधीनता है।

बल, विवेक या ज्ञान और विश्वास-यह तीन अनुपम शक्तियाँ भगवान् ने आपको दी हैं। आप बल के सदुपयोग से जगत् के काम आ सकते हैं, विवेक के आदर से अपने काम आ सकते हैं और विकल्प-रहित विश्वास से सर्व-समर्थ प्रभु के काम आ सकते हैं। इस प्रकार आपका जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

प्रभु को अपना मानने से प्रभु की प्रीति, प्रभु के नाते संसार के काम आने से उदारता और किसी को भी अपना न मानने से स्वाधीनता मिलेगी। उदार, स्वाधीन और प्रेमी होने से प्रभु को भी रस मिलता है। इन तीनों के समावेश का नाम ही मानव या साधक है। उदारता, स्वाधीनता और प्रेम ही साधन-तत्त्व हैं।

आप मुक्ति और भक्ति को पसन्द नहीं करते, यही बन्धन का कारण है। योग माने, सब ओर से हटकर एक में लगना; बोध माने, सभी पसन्दगियों को एक पसन्दगी में विलीन करना और प्रेम माने केवल किसी एक को ही अपना मानना और उससे भी कुछ न चाहना। जैसे, जहाँ भोग है, वहाँ मोह और आसक्ति है, वैसे ही जहाँ योग है, वहाँ बोध भी है और जहाँ बोध है, वहाँ प्रेम भी है।

आप सभी मुक्त और भक्त हो जाएँ, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

## (35)

**प्राणप्यारे के प्रियजनो!**

सविनय सेवा में निवेदन है कि जो सदैव होने से अभी और सभी का होने से अपना और सर्वत्र होने से अपने में मौजूद है, वही समर्थ है, वही ईश्वर है और वही प्रेमियों का प्राणेश्वर है। उसी को साधन तत्त्व अर्थात् गुरु तत्त्व एवं साध्य तत्त्व भी कहते हैं। वह गुरु तत्त्व साध्य का ही प्रतिरूप है। साध्य की कृपामूर्ति ही गुरुमूर्ति है, यह प्रेमीजनों का ही अनुभव है। साधक की गुरु तत्त्व से ही अभिन्नता होती है और गुरु तत्व सर्वदा ही साध्य तत्त्व से अभिन्न है। निज-ज्ञान-गुरु के प्रकाश में अनुभव करो कि प्रतीति का प्रकाशक और उत्पत्ति का आधार जो है वही अनादि, अनन्त, अविनाशी तत्त्व है। उसी से साधकों की जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध है और वे ही सबके अपने हैं। यह वास्तविकता सद्गुरु-वाणी के द्वारा ही स्वीकार की जाती है। स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति स्वत; होने लगती है। अत: जिन भागवतजनों ने गुरुमुख द्वारा उसे, जिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि के द्वारा देखा नहीं, अपितु गुरुवाणी के द्वारा स्वीकार किया है, वे धन्य हैं। गुरु तत्त्व के बिना अनन्त, अगोचर, प्राणेश्वर से आत्मीय सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। इस दृष्टि से गुरु तत्त्व ही एकमात्र श्रीहरि के मिलाने में हेतु है।

ज्ञान का प्रकाश दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है और साधक के सर्व दु:खों की निवृत्ति हो सकती है। किन्तु नित-नव रस की उपलब्धि के लिए तो आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक गुरुवाणी द्वारा ही 'उसे' स्वीकार किया जाता है, जो सभी का सब कुछ है। आत्मीय सम्बन्ध ही एकमात्र अखण्ड स्मृति तथा अगाधप्रियता की अभिव्यक्ति में हेतु है। यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने सद्गुरु-वाणी को अपनाया है। गुरुतत्त्व की प्राप्ति होने पर ही भगवत्तत्त्व की प्राप्ति होती है। यह भगवत्तत्त्व-प्राप्त साधकों का अनुभव है। निज ज्ञान के आदर से साधक चिरशान्ति, जीवन-मुक्ति प्राप्त कर सकता है। परन्तु भक्तित्व की प्राप्ति में तो एकमात्र सद्गुरु-वाणी में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास ही अचूक उपाय है। यह जीवन का सत्य है।

हमें अपने सम्बन्ध में सजीवता लानी चाहिए। वह तभी सम्भव होगी, जब हम अपने में अपने परम प्रेमास्पद को स्वीकार कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाएँ। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से अपने विश्वासी जनों को अपनी आत्मीयता प्रदान करें, जिससे वे पावन प्रीति पाकर कृतकृत्य हो जाएँ, यही मेरी सद्भावना है। विवेक ही ज्ञान गुरु है। विवेक में अपने बनाए हुए दोष का ज्ञान और उसकी निवृत्ति का उपाय विद्यमान है। पर यह तभी सम्भव

होगा, जब विवेकदृष्टि का उपयोग केवल अपने वर्तमान जीवन पर ही किया जाए, किसी अन्य पर नहीं। विवेक से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। इतना ही नहीं, समस्त दृश्य किसी का प्रकाश है। वस्तु आदि के परिवर्तन का ज्ञान नित्य जीवन की आवश्यकता जाग्रत करता है तथा प्रकाश प्रकाशक की ओर गतिशील होने की प्रेरणा देता है। नित्य जीवन की आवश्यकता अनित्य जीवन की कामनाओं को खा लेती है। कामनाओं की निवृत्ति में निर्दोषता और आवश्यकता की पूर्ति में नित्य जीवन की प्राप्ति निहित है।

निर्दोषता आते ही राग-द्वेष का अन्त हो जाता है। राग-द्वेष रहित होते ही इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि अपने प्रकाशक में विलीन हो जाती है। इस दृष्टि से समस्त दृश्य उस अनन्त का प्रकाश है। प्रकाश में सत्ता प्रकाशक की ही होती है। अत: प्रकाश और प्रकाशक का विभाजन नहीं हो सकता, अपितु प्रकाश अपने प्रकाशक से अभिन्न हो सकता है। वास्तव में यही नित्य योग है।

नित्य योग संयोग की दासता और वियोग के भय से मुक्त करने में समर्थ है, जिसके होते ही चिर-शान्ति, अमरत्व एवं प्रीति की जागृति स्वत: हो जाती है। अथवा यों कहो कि प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है।

इस प्रकार विवेक की दृष्टि साधन का आरम्भ है और दृष्टि का अन्त अथवा प्रीति की दृष्टि साधन का अन्त है। यदि प्रीति समस्त दृश्य की ओर प्रवाहित हो, तो उसका नाम विश्व-प्रेम है, यदि 'स्व' की ओर प्रवाहित हो, तो उसे आत्म-रति कहते हैं। और वही यदि अनन्त की ओर प्रवाहित हो, तो उसी का नाम प्रभु-प्रेम हो जाता है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (36)

**मेरे निजस्वरूप परमप्रिय साधक महानुभाव!**

संयोग-काल से ही वियोग आरम्भ हो जाता है। संयोग-काल में यदि सेवा नहीं की, तो भोग होगा और परिणाम में रोग, शोक और आसक्ति मिलेगी, जो बन्धन का हेतु है। यदि सेवा की, तो सर्व दु:खों की निवृत्ति, स्वाधीनता और अमर जीवन मिलेगा।

संयोग और नित्य-योग में एक बड़ा भेद है। संयोग उसी से होता है, जिससे हमारी जातीय और स्वरूप की एकता नहीं है तथा जिसका वियोग भय उत्पन्न करता है। जबकि नित्य-योग उसी से होता है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है एवं उससे कभी वियोग भी नहीं होता। उससे देश-काल की दूरी भी नहीं है। जिससे केवल मानी हुई एकता है, जातीय नहीं, उससे सम्बन्ध-विच्छेद करने में जो भय प्रतीत होता है, उसका एकमात्र कारण यह है कि हमें विश्वास नहीं रहा है कि वस्तु, व्यक्ति, अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत भी जीवन है।

निज-विवेक का प्रकाश यह स्पष्ट करता है कि वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि परिवर्तनशील तथा अनित्य हैं। परन्तु उसका प्रकाशक ज्यों-का-त्यों है। हम परिवर्तनशील और अनित्य की आसक्ति में आबद्ध होकर अनन्त से विमुख हो जाते हैं। यह वास्तव में प्राप्त विवेक का अनादर है। मानव-जीवन में विवेक के अनादर का कोई स्थान ही नहीं है।

हमारा नित्य-योग उसी से हो सकता है, जो सर्वत्र और सर्वकाल में हो तथा जिसमें किसी प्रकार का अभाव न हो, अपितु जो सभी अभावों का अभाव करने में समर्थ हो। जो सर्वकाल में है वह वर्तमान में भी है। अतः नित्य-योग की प्राप्ति वर्तमान जीवन की वस्तु है। उसे भविष्य पर छोड़ना अपना सर्वनाश करना है। अनित्य के वियोग में ही नित्य-योग की सामर्थ्य है। परिस्थितियों के सदुपयोग में ही परिस्थितियों से असंग होने की योग्यता विद्यमान है।

जब हम अपने को देह मान लेते है, तो देह की उपस्थिति में ही हमें अपना अस्तित्व भासने लगता है। उसी प्रकार जितनी ऐसी मान्यताएँ हैं जिनकी अपने में अभेद-भाव से स्थापना कर ली जाती है वे सभी अपने अस्तित्व के रूप में मालूम होती हैं। फिर हम अपने को सीमित मानकर अनेक प्रकार की ममताओं को उत्पन्न कर लेते हैं। क्योंकि जो सीमित है, उसे अपने को जीवित रखने के लिए वस्तु, व्यक्ति आदि की आवश्यकता हो जाती है। फिर वह उनकी दासता में आबद्ध हो जाता है तथा उनके नष्ट होने पर प्राणी क्षुब्ध होने लगता है। वस्तु-व्यक्ति आदि के बने रहने पर अपने को अभिमानी बनाता है और मिटने पर दीन तथा अनाथ मानने लगता है। इस प्रकार वह दीनता तथा अभिमान की अग्नि में निरंतर दग्ध होता रहता है।

अहं और मम का सम्बन्ध ही भोग है, जो रोग और शोक को उत्पन्न करता है। भोग से विमुख होकर योग के सम्मुख होने के लिए यह आवश्यक है कि जिनसे हमारी ममता है, उन्हें जो देना है, वह दे दिया जाए और लेने

की आशा का त्याग कर दिया जाए। इससे भोग योग में बदल जाता है। भोग जीवन की अस्वाभाविक अवस्था है, जबकि योग स्वाभाविक तथा अविनाशी है। भोग प्राणी को जड़ता, परतन्त्रता, शक्तिहीनता तथा अभावों में आबद्ध करता है। योग सामर्थ्य, चिन्मयता, स्वाधीनता और अमरत्व की ओर गतिशील करता है। इस दृष्टि से भोग का योग में परिवर्तन करना अति आवश्यक है।

जिनसे ममता है, उनके अधिकार की रक्षा करने से उनके राग की निवृत्ति हो जाती है तथा अधिकार के त्याग से उनसे असंगता हो जाती है। राग-रहित होकर जब हम सब ओर से विमुख हो जाते हैं, तब नित्य-योग स्वतः प्राप्त होता है। दूसरों के अधिकार की रक्षा के बिना मानव जड़ता से विमुख होकर चिन्मय जीवन मे प्रवेश नहीं कर पाता और अपने अधिकार के त्याग के बिना विस्तृति का नाश नहीं होता। क्रोध से विस्मृति की उत्पत्ति होती है। अपने स्वरूप की विस्मृति से ही हम अपने को देह मान लेते हैं। कर्त्तव्य की विस्मृति से ही हम अकर्त्तव्य में प्रवृत्त होते हैं। प्रभु की विस्मृति से ही हम नाशवान में आसक्त होते हैं। इस दृष्टि से विस्मृति का नाश आवश्यक है, जो अपने अधिकार के त्याग से ही सम्भव है।

अधिकार-लालसा का जन्म कब होता है? जब हम अपने को देह मान लेते हैं, जोकि अविवेक सिद्ध है। अतः देह की ममता का त्याग कर, जब मानव लेना बन्द कर देता है और सर्वस्व देकर देने से मुक्त हो जाता है, तब वह दिव्य-चिन्मय प्रीति से अभिन्न हो जाता है। फिर वह प्रीति होकर अनेक रूपों में, अनेक परिस्थितियों में अपने प्रीतम को ही लाड़ लड़ाता है। जब प्रीति से अभिन्नता हो जाती है, तब समस्त भौतिक जगत् उस अनन्त की ही अभिव्यक्ति प्रतीत होता है। प्रेम के साम्राज्य में उन्हीं का प्रवेश होता है, जो विवेकपूर्वक कर्म, चिन्तन और स्थिति से अपने को असंग कर लेते हैं। आप सभी प्रीति के साम्राज्य में प्रवेश पा जाएँ, इसी सद्‍भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (37)

**मेरे निजस्वरूप परमप्रिय साधक महानुभाव!**

मानव-जीवन क्या है? कर्तव्य का प्रतीक। हमारी जिम्मेदारी है कि हम अपने साथ, जगत् के साथ और प्रभु के साथ कर्त्तव्य का पालन करें। साधक

को कर्म-सामग्री मिली है और कर्त्तव्य-पालन की स्वाधीनता मिली है। अपने साथ अपना कर्त्तव्य है कि हम अपने को बुरा न बनाएँ, जगत् के साथ हमारा कर्त्तव्य है कि हम जगत् को बुरा न समझें। और प्रभु के साथ हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनको अपना मानें। हम इन तीनों में से एक भी नहीं करते, फिर चाहते हैं साधक होना। यह नहीं हो सकता।

हम प्रभु की चीज को अपना मानते हैं। इस बेईमानी से चित्त कैसे शुद्ध होगा? चित्त-शुद्धि के लिए किसी भी वस्तु को अपना मत मानो। त्याग द्वारा जीवन अपने लिए, सेवा द्वारा जीवन जगत् के लिए और प्रेम द्वारा जीवन भगवान् के लिए उपयोगी हो जाता है। त्याग के द्वारा हम चित्त को शुद्ध कर सकते हैं। त्याग नहीं करेंगे, तो राग रहेगा। उसके परिणाम में अभाव, पराधीनता, जड़ता, सुख और दु:ख-इन पाँच फलों को भोगना पड़ेगा। फिर जीवन अपने लिए उपयोगी सिद्ध न होगा।

सेवा का व्रत ले लीजिए, तो जीवन जगत् के लिए उपयोगी हो जाएगा। आप अपने द्वारा स्वीकार कीजिए कि प्रभु मेरे अपने हैं। प्रभु में विश्वास करने पर उनसे आत्मीयता हो जाती है और फिर प्रियता उदित होती है। प्रियता से प्रभु का रस मिलता है, अर्थात् प्रियता के रस से आनन्दघन भी आनन्दित होते हैं।

त्याग का अर्थ है-किसी भी वस्तु को अपना न मानना; स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों शरीरों से सम्बन्ध न रखना; कर्म चिन्तन और स्थिति-किसी भी अवस्था में जीवन-बुद्धि न रखना, किसी का भी आश्रय न लेना और किसी से सुख की आशा न करना।

क्या तुम चाहते हो कि तुम्हारा जीवन किसी का प्रेम हो जाए? यदि चाहते हो, तो उसकी सेवा करो, पर तुम कुछ न चाहो। प्रेम वह तत्त्व है, जिसका ह्रास नहीं होता, लेने पर तृप्ति नहीं होती, देने पर घटता नहीं। अर्थात् प्रेम-तत्त्व का रस क्षति, पूर्ति और निवृत्ति से रहित है। वह नित-नव वृद्धि को प्राप्त होता रहता है।

शान्ति का सम्पादन सत्संग से होता है। सत्संग में ही साधक के पुरुषार्थ की परावधि है। सत्संग का अर्थ है, अविनाशी का संग अर्थात् जो 'है' उसका संग। साधक को अपनी भूल का ज्ञान 'शान्ति-काल' में ही होता है। चित्त में कोई विकार नहीं है, अविनाशी में भी कोई विकार नहीं है। फिर विकार किसमें है? जिसने जाने हुए असत् का संग किया है, अर्थात् मानव में है। विकार कहो या दोष। दोष अनेक नहीं हैं, किन्तु परिस्थिति-भेद से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। वह मूल दोष क्या है? सुख का प्रलोभन और दु:ख

का भय। सुख के न रहने पर भी सुख का प्रलोभन रह जाता है और दु:ख से पूर्व ही दु:ख का भय आक्रमण करने लगता है। सुखलोलुपता हमें असमर्थ बना देती है। दु:ख के भय से सुख-लोलुपता पुष्ट होती है। सुख-लोलुपता का नाश करने के लिए ही दु:ख आता है। दु:ख का न आना ही सभी को अभीष्ट है। परन्तु फिर भी दु:ख क्यों आता है, इस पर मानव विशेष ध्यान नहीं देता, अपितु दु:ख से भयभीत हो जाता है। जो अपने आप आता है, वह मंगलमय विधान से आता है। विधान किसी के लिए अहितकर नहीं होता, अपितु सभी के लिए हितकर होता है। परन्तु यह बात वे ही जान पाते हैं, जो अपनी रुचि के विरुद्ध होने पर भी विधान का आदर करते हैं।

शान्ति-सम्पादन के समय जो व्यर्थ चिन्तन होता है, उसका कारण 'नहीं' का राग है। उसको मिटाने के लिए उसका समर्थन मत करो, उसका विरोध भी मत करो और उससे तादात्म्य भी मत करो। उससे सुख मत लो और भयभीत न हो। उससे केवल असहयोग करो। समर्थन और विरोध से सम्बन्ध टूटेगा नहीं।

व्यर्थ चिन्तन के नाश होने पर सार्थक चिन्तन उदय होगा, जो अखण्ड स्मृति में हेतु है। अखण्ड स्मृति दृश्य नहीं है। अखण्ड स्मृति में चेतना है, प्रियता है। उसका नाश नहीं होता। उसके लिए शरीर आदि की आवश्यकता नहीं है। स्मृति 'है' की होती है। स्मृति प्रियता, और प्राप्ति के अर्थ में आती है। यही जीवन की पूर्णता है। अत: अखण्ड स्मृति की जागृति कर कृतकृत्य हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

**(38)**

**मेरे निजस्वरूप महानुभाव!**

यह जीवन का सत्य है कि जो कभी भी अलग होगा, वह अभी भी अलग है। और जो कभी मिलेगा, वह अभी भी मिला हुआ है। इस सत्य को अपनाने पर परमात्मा अपने में ही पाओगे। इसका अनुभव कैसे हो? इसका अचूक अनुपम उपाय है, अचाह हो जाना। अचाह होने का फल है, अप्रयत्न हो जाना। अप्रयत्न होते ही अपना परमात्मा अपने में ही अनुभव हो जाएगा। इस दृष्टि से परमात्मा के सिवाय और कोई अपना नहीं है।

शरीर को अपना मानने से लोभ, मोह, आसक्ति आदि विकार उत्पन्न होते हैं, जिससे जीवन सभी के लिए अनुपयोगी हो जाता है। अतः इस भूल का अन्त करना अनिवार्य है। शरीर अपना है भी नहीं। वह तो संसार-सागर की एक नन्ही-सी बूँद है। उसे संसार की सेवा में लगाना ही उसका सदुपयोग है। ईश्वरवादी ईश्वर का काम समझकर संसार की सेवा करता है, अध्यात्मवादी अपनी ही एक अवस्था मानकर सेवा करता है और भौतिकवादी "सृष्टि अव्यक्त का ही व्यक्त रूप है"-यह मानकर सेवा करता है। इस प्रकार शरीर और मिली हुई वस्तु, योग्यता तथा सामर्थ्य संसार की सेवा-सामग्री है और कुछ नहीं।

भौतिकवाद का अर्थ यह नहीं है कि खाओ, पीओ, मौज करो। भौतिकवाद का अर्थ है कि योग विज्ञान की प्राप्ति हो जाए। योग में बड़ी अलौकिक शक्तियाँ आती हैं। परन्तु उनका सदुपयोग लोक-हित में ही होना चाहिए। तभी अध्यात्म-जीवन में प्रवेश होगा। अध्यात्म विज्ञान ही बोध है और प्रेम आस्तिक विज्ञान है। योग, बोध, प्रेम में इतनी एकता है कि पूर्ण योग होने पर बोध प्राप्त होने पर प्रेम अवश्य प्राप्त होता है।

योग की प्राप्ति तीन उपायों से होती है- (1) धर्मात्मा होने से (2) अचाह होने से (3) शरणागत होने से।

इन तीनों उपायों में-से किसी भी एक को अपनाने पर पूर्ण योग प्राप्त हो जाता है। सुखमय परिस्थिति में धर्मात्मा होकर योग प्राप्त किया जा सकता है। दुःखमय परिस्थिति में अचाह हो कर योग प्राप्त करें। यदि जीवन में विश्वास-पक्ष प्रबल है, तो शरणागत होकर योग प्राप्त कीजिए। योग से शक्ति प्राप्त होगी, जो बोध और प्रेम की ओर गतिशील करेगी। योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति ही मानव-जीवन का लक्ष्य है।

सेवा से हमें अपने को जानने की और प्रभु को अपना मानने की सामर्थ्य आती है। सेवा करने से अचाह और निर्मम होने का भी बल आता है। सेवक के पास अपना कुछ नहीं होता। उसे रागरहित होने के लिए केवल सेवा करना ही अभीष्ट है। चाह और प्रयत्न जब तक जीवन में रहेंगे, तब तक देह के साथ मिले रहोगे और पराधीनता में आबद्ध रहोगे तथा जीवन-मरण के चक्कर में घूमते रहोगे, मुक्ति नहीं मिलेगी। इसलिए यदि करो, तो सेवा करो। नहीं तो विश्राम में रहो। विश्राम आलस्य या अकर्मण्यता नहीं है। विश्राम शक्ति और शान्ति का स्रोत है।

सामर्थ्य और ज्ञान के अनुरूप दूसरों के संकल्प पूरा करना सेवा कहलाती है। इसी को आवश्यक कार्य भी कहते हैं। सेवा के लिए निर्विकार

होना आवश्यक है! इसके लिए आत्म-निरीक्षण करना तथा अपने जाने एवं किए हुए दोषों का त्याग अनिवार्य है। पर-दोष-दर्शन के दोष से भी बचना आवश्यक है।

हर सुख का भोग एक भयंकर दु:ख में आबद्ध करता है। यदि यह बात समझ में आ जाए, तो सुख-भोग से अरुचि हो जाए और सर्व दु:खों की निवृत्ति हो जाए। सर्व दु:खों की निवृत्ति का अर्थ है, परमानन्द की प्राप्ति।

प्रभु ने मानव-जीवन का निर्माण इसलिए किया है कि मानव सुख की दासता तथा दु:ख के भय से रहित सदा-सदा के लिए अभय और अमर हो जाए। जो उस जीवन को पसन्द करता है, उसको वह अमर जीवन अवश्य प्राप्त होता है। उससे हमें निराश नहीं होना चाहिए। जो नहीं है, उसे पसन्द कर लेने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं होती। पर जो है, उसको प्राप्त करने का मुख्य उपाय है, केवल उसे ही पसन्द करना। आज दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि केवल भगवान् पसन्द कहाँ है? यदि हम केवल भगवान् को ही पसन्द करें, उन्हीं से सम्बन्ध रखें और उन्हीं के होकर रहें, तो भगवान् की हिम्मत नहीं है कि वे हमें न अपनाएँ। भगवान् आज भी हमारे-आपके लिए वैसे ही हैं, जैसे मीराजी आदि भक्तों के लिए थे।

हाय! हाय!! अब भी यही पसन्द करते रहेंगे कि रुचिकर भोजन मिले, शरीर सदा बना रहे, अनुकूलता बनी रहे और प्रतिकूलता न आए! आपको प्राणों के रहते ही स्वाधीन, अमर जीवन प्राप्त करना है। इसी सद्‌भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (39)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

यह जीवन का सत्य है कि जो कभी अलग होगा वह अब भी अलग है और जो कभी मिलेगा वह अब भी मिला हुआ है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति और अवस्था सदैव हमसे अलग हैं और प्रभु नित्य प्राप्त है। वह कभी अलग है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। क्यों? उसी की हम सब अभिव्यक्ति हैं। हमसे वह दूर नहीं है, केवल उससे विमुखता हो गई है। विमुखता की निवृत्ति एकमात्र मूक-सत्संग से होती है। मूक-सत्संग निर्मम, निष्काम और अचाह होने से सिद्ध होता है।

निर्मम तथा निष्काम होने में प्रत्येक मानव सदैव स्वाधीन है। कारण कि ममता और कामना का त्याग करने की स्वाधीनता मानवमात्र को जन्मजात प्राप्त है। यह अनुभव कि मिली हुई वस्तु व्यक्तिगत नहीं है, मानव को निर्मम बना देता है। इस निज अनुभव के अनादर से ही ममता उत्पन्न होती है। ममता के कारण ही शरीरादि वस्तुओं से तादात्म्य होने पर कामनाओं का जन्म होता है। कामनाओं की पूर्ति और अपूर्ति ही मानव को सुख की दासता तथा दु:ख के भय में आबद्ध करती है। दासता तथा भय किसी को भी अभीष्ट नहीं हैं, किन्तु प्रमाद–वश मानव अपने को भय, चिन्ता तथा नीरसता में आबद्ध कर लेता है। यही व्यक्तिगत जीवन की असफलता है। इस असफलता का अन्त हो सकता है। परन्तु इसके लिए प्रत्येक मानव को मिले हुए की ममता तथा देखे हुए की कामना का त्याग करना आवश्यक है। मिले हुए का दुरुपयोग न करने से कर्त्तव्यपरायणता और मिले हुए की ममता के त्याग से असंगता स्वत: अभिव्यक्त होती है। उसके पश्चात् अचाह होने की सामर्थ्य आती है।

कर्त्तव्यपरायणता से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग और असंगता से सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य–चिन्मय जीवन से अभिन्नता स्वत: होती है, जिसके होते ही अखंड स्मृति तथा अगाधप्रियता जाग्रत होती है, जो वास्तविक जीवन है। अत: वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिए निज अनुभव का आदर करते हुए प्रत्येक मानव को निर्ममता, निष्कामता तथा असंगता को अपनाना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

अहंकृति–रहित होने से असत् का त्याग तथा सत् का संग स्वत: हो जाता है। अहंकृति रहित होने के लिए वर्तमान कार्य को लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए फलासक्ति को छोड़कर पूरा करना है तथा आनावश्यक कार्य का त्याग करना है। अहंकृति का नाश तथा चिर–विश्राम की अभिव्यक्ति युगपद् है। विश्राम में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास निहित है।

मानव जीवन इसलिए अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इसे विवेक का प्रकाश मिला है। इस विवेक के प्रकाश में मानव यह अनुभव कर सकता है कि कोई भी परिस्थिति जीवन नहीं है, चाहे वह कितनी ही अनुकूल क्यों न हो। फिर वह सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन की आवश्यकता अनुभव करता है। मानव उसी विवेक के प्रकाश से अपनी भूल को जानने और मिटाने की सामर्थ्य को पाता है। वह विवेकरूपी प्रकाश उसे जन्मजात प्राप्त है। इसलिए मानव को सफलता से निराश नहीं होना है। वह प्राप्त का सदुपयोग कर सुन्दर समाज का निर्माण कर सकता है। सुन्दर समाज के निर्माण में अपना भी कल्याण है। यही वर्तमान युग की माँग है।

मानव का विकास सत्संग से होता है। सत्संग असत् के आश्रय से नहीं हो सकता। श्रम-साध्य प्रयास शरीर के माध्यम से होते हैं। परन्तु सत्संग के लिए तो इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण आदि के सहयोग की भी आवश्यकता नहीं होती। सत्संग स्वधर्म है, शरीर धर्म नहीं। सत्संग में तीन मुख्य शर्तें हैं-(1) जाने हुए का अनादर न किया जाए, (2) मिले हुए का दुरुपयोग न किया जाए और (3) सुने हुए प्रभु की आस्था में विकल्प न किया जाए।

सत्संग का प्रभाव यह होता है कि असत् के संग का त्याग और असाधन का नाश हो जाता है। लोभ, मोह, आसक्ति आदि विकारों का नाश होने पर विश्राम मिलता है, जो विकास की भूमि है। विश्राम अकर्मण्यता या आलस्य नहीं है, इसलिए आवश्यक कार्य के सम्पादन तथा अनावश्यक कार्य के त्याग से साध्य है। वर्तमान कर्त्तव्य कर्म में क्रियाशीलता का सदुपयोग है, जिसके करने से विद्यमान राग की निवृत्ति होती है, और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। वर्तमान राग निवृत्ति हो जाए और नवीन राग की उत्पत्ति न हो, यही योग विज्ञान की भूमि है।

राग-रहित भूमि में ही 'करना' 'होने' में और 'होना' 'है' में विलीन हो जाता है। अतः करने का दायित्व मिले हुए के सदुपयोग में है। बल का सदुपयोग और विवेक का आदर ही एक ऐसा सूत्र है जो मानवमात्र को मानव-सेवा-संघ की विचारधारा से अभिन्न करने में समर्थ है। इसी सूत्र के अपनाने से मानव में मानवता आती है। अपना कल्याण सभी को अभीष्ट है। इसके लिए इस सूत्र को जीवन में अपनाना आवश्यक है।

सर्व-समर्थ प्रभु से प्रार्थना है कि आप सभी को बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (40)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

मानवमात्र की तीन माँगें हैं-विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम। विश्राम में शान्त रस, स्वाधीनता में अखण्ड रस तथा प्रेम में अनन्त रस है। रस और सुख में बड़ा भेद है। सुख में दुःख का भय रहता है, परन्तु रस भयहीन होता

है। भय किसी को अभीष्ट नहीं है। इसलिए सुख की अपेक्षा नित्य रस की प्राप्ति में ही मानव का कल्याण है।

सुख जिस विधान से आता है, उसी विधान से चला जाता है। उसे बनाए रखने में कोई भी समर्थ नहीं है। हाँ, हम लोग सुख का प्रलोभन बनाए रखते हैं, जो दुःख का मूल है। इसलिए साधक का यह दायित्व है कि वह सुख के प्रलोभन का नाश करे।

प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में मानव स्वाधीन है, परन्तु परिस्थिति परिवर्तन में सभी पराधीन हैं। इस पराधीनता में भी प्राणी का विकास है, क्योंकि यह अनन्त का मंगलमय विधान है। इस दृष्टि से जो कुछ हो रहा है उसमें प्रसन्न रहना ही हितकर है। पर इस तथ्य को वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने मानव जीवन के महत्त्व को भली-भाँति जान लिया है। प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है, जीवन नहीं। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो, उसके सदुपयोग में सफलता अवश्यम्भावी है।

जब मानव अपनी माँग को अपने ज्ञान से जान लेता है, तब परिस्थिति के अनुसार जो उस पर दायित्व है, उसे अवश्य पूरा कर डालता है। दायित्व को पूरा करते ही माँग अपने-अपने पूरी हो जाती हैं, यह विधान है। इस दृष्टि से अपनी माँग का ज्ञान और दायित्व को पूरा करना ही सफलता की कुँजी है।

विवेक-विरोधी कर्म, विवेक-विरोधी सम्बन्ध और विवेक-विरोधी विश्वास के त्याग में ही कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और शरणागति निहित है। कर्त्तव्यपरायणता से जीवन जगत् के लिए, असंगता से जीवन अपने लिए और शरणागति से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी हो जाता है। यही मानव-जीवन की महिमा है।

जब तक साधन-निर्माण नहीं होता, तभी तक परस्पर में विचार विनिमय की अपेक्षा है। रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुरूप साधन-निर्माण होते ही बाह्य सत्संग की अवश्यकता नहीं रहती। साधक जो कुछ कर सकता है, उसी से उसे सिद्धि मिल सकती है। इस मंगलमय विधान में आस्था होने पर प्रत्येक साधक निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है।

असाधन-जनित सुख-लोलुपता असाधन के त्याग करने में बाधक बनती है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम अकर्त्तव्य से उत्पन्न हुई सुख-लोलुपता का नाश करना अनिवार्य है। यद्यपि आया हुआ सुख अपने आप चला जाता है, किन्तु उसका प्रलोभन साधक को सुख की दासता में आबद्ध कर देता है। सुख की दासता ही दुःख के भय को जन्म देती है। प्राकृतिक विधान के अनुसार दुःख

ने चाहने पर भी आ जाता है और सुख चाहने पर भी चला जाता है। विचारशील साधक आये हुए सुख–दु:ख का भोग नहीं करते, अपितु सदुपयोग करते हैं। सुख–दु:ख का भोग असाधन है और सदुपयोग साधन है।

सुख–दु:ख परिवर्तनशील जीवन की दो अवस्थाएँ हैं। साधक को इन दोनों से अतीत के जीवन में प्रवेश पाना है। सुख–दु:ख में जीवन–बुद्धि न रहने से सुख–दु:ख के सदुपयोग की सामर्थ्य अपने आप आ जाती है। सुख–दु:ख का सदुपयोग वे प्राणी नहीं कर पाते, जो सुख–दु:ख को ही जीवन मान लेते हैं, उनको साधन–सामग्री नहीं जानते। सुख उदारता का और दु:ख त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आता है। उदारता करुणा और प्रसन्नता खिन्नता को खा लेती है। उदारचरित मानव ही दु:खी को देखकर करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होता है। उदारता ही अहं और मम का नाश कर निर्वासना प्रदान करती है। इस दृष्टि से सुख–दु:ख दोनों का सदुपयोग अति आवश्यक है। यह रहस्य भली भांति जान लेने पर न तो मानव सुख की दासता में ही आबद्ध होता है और न दु:ख से ही भयभीत होता है। उसके लिए सुख–दु:ख दायें–बायें पैर के समान हैं। अत: प्रत्येक परिस्थिति में साधक साधननिष्ठ हो सकता है, यह निर्विवाद सत्य है।

सेवा करने की सामर्थ्य उन्हीं साधकों को प्राप्त होती है जो दुखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होते हैं। सेवा मानव–जीवन को जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध करती है तथा विवेकपूर्वक असंग होते ही जीवन अपने लिए उपयोगी हो जाता है एवं प्यारे प्रभु की आत्मीयता स्वीकार करने पर जीवन प्रभु के लिए भी उपयोगी हो जाता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपराणता, असंगता एवं शरणागति में समस्त साधनों की अभिव्यक्ति निहित है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (41)

**प्रिय साधको!**

साधन की लालसा मानवमात्र में विद्यमान है, परन्तु उस लालसा को असाधनयुक्त कामनाओं ने आच्छादित कर रखा है। यह सर्वमान्य है कि असाधन का आरम्भ सुखद और अन्त दु:खद है। असाधन के परिणाम का प्रभाव ज्यों–ज्यों स्थायी और सबल होता जाता है, त्यों–त्यों असाधन–जनित

सुखलोलुपता स्वत; मिटती जाती है। असाधन का त्याग और साधन का आरम्भ युगपद् होते हैं। असाधन के रहते हुए बलपूर्वक किया हुआ साधन मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है, जो सभी दोषों का मूल है।

जो साधक प्रतिकूलता और अनुकूलता का सदुपयोग करता है, वह बड़ी ही सुगमता से साधननिष्ठ हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार अनुकूलताएँ और प्रतिकूलताएँ अपने आप आती और जाती हैं, वे सदैव रहती नहीं। इस अनुभूति का आदर करने से साधन का आरम्भ हो जाता है। प्रतिकूलताओं से भयभीत होने पर भी साधन सुलभ हो जाता है, क्योंकि जो सदैव नहीं रहता वह जीवन नहीं है। सदैव न रहने वोली वस्तु से सम्बन्ध-विच्छेद तथा उसका सदुपयोग करने में सभी साधक स्वाधीन और समर्थ हैं।

निज विवेक के प्रकाश में वस्तु–व्यक्ति आदि से सम्बन्ध–विच्छेद करने पर लोभ, मोह आदि विकारों का सदैव के लिये नाश हो जाता है। इस दृष्टि से निज–ज्ञान के आदर से भी साधन आरम्भ हो जाता है। फिर प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा स्वत: होती रहती है।

हम किसी का बुरा नहीं चाहें, इस सद्‌भावना को सबल और स्थायी बनाने पर भी साधन का आरम्भ हो सकता है। इस पवित्र भाव से अपवित्रता का नाश हो जाता है। किसी का बुरा न चाहना विश्व की सबसे बड़ी सेवा है। इस सद्‌भावना से उसे प्रसन्नता होगी जिसने मानव और जगत् का निर्माण किया है, क्योंकि जगत् उसी अव्यक्त का व्यक्त का रूप है।

उत्पत्ति–विनाश रहित अविनाशी तत्त्व में अविचल आस्था, श्रद्धा और विश्वास होने पर भी साधन का आरम्भ हो जाता है। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान और उसकी ममता का त्याग ही अनुत्पन्न तत्त्व में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास जाग्रत करता है। अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास से आत्मीयता और प्रियता जाग्रत होती है। प्रियता स्वभाव से ही रसरूप है।

अत: साधन के आरम्भ के लिए प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग, शरीर और संसार से असंगता और सर्व–समर्थ में आस्था, श्रद्धा, विश्वास होना आवश्यक है। जिसे जो अनुकूल पड़े उसी को अपनाकर साधक साधननिष्ठ हो सकते हैं और सफलता पा सकते हैं।

वास्तव में साधन ही साधक का अस्तित्व है। साधन नित्य तत्त्व है। इस कारण प्रत्येक मानव को साधननिष्ठ होना अनिवार्य है। जब तक साधक के जीवन में साधन के साथ–साथ असाधन भी रहता है, तब तक साधक को अपने और साधन में किसी–न–किसी प्रकार का भेद प्रतीत होता है। जब

साधक को यह भेद असह्य हो जाता है, तब सर्वांश में असाधन का नाश हो जाता है। साधन की लालसा असाधन का अन्त करने में सदैव समर्थ है।

साधन के महत्त्व को जाने बिना कोई भी व्यक्ति अपने को साधक स्वीकार नहीं कर सकता। जब तक व्यक्ति अपने को साधक स्वीकार नहीं करता, तब तक उसे परिस्थिति ही जीवन प्रतीत होती है और वह परिस्थितियों की दासता में आबद्ध रहता है। कोई भी परिस्थिति जीवन हो नहीं सकती, क्योंकि वह सतत परिवर्तनशील है। अतः व्यक्ति अपने को साधक स्वीकार करने पर ही परिस्थितियों का सदुपयोग कर परिस्थितियों से असंग होता है। परिस्थितियों से असंग होते ही जीवन साधन और साधन जीवन हो जाता है।

साधन ही साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न कर साध्य को रस देने में समर्थ है। सत् असाधन को प्रकाशित करता है, पर उसका नाश नहीं करता। परन्तु सत् की लालसा असत् और असाधन को खाकर साधक को सत् से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से साध्य की अपेक्षा साधन का कहीं अधिक महत्त्व है। यह अवश्य है कि साधन में सत्ता साध्य की ही होती है। यह साध्य की महानता है कि साधन को सत्ता देकर अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया। साधक का साध्य से सम्बन्ध साधन द्वारा ही होता है।

साधक का पुरुषार्थ असाधन के त्याग में है। विवेक-विरोधी स्वीकृति, कर्म, सम्बन्ध और चिन्तन असाधन हैं। असाधन का त्याग सभी मत, सम्प्रदाय, विचारधारा के साधकों के लिए समान रूप से आवश्यक है। अर्थात् भौतिकवादी, अध्यात्मवादी, विचारमार्गी और विश्वासमार्गी सभी के लिए असाधन का त्याग अनिवार्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु सभी साधकों को असाधन के त्याग का बल प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (42)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

अपने से भिन्न मानी हुई सत्ता का शासन स्वीकार करना ही बन्धन है। मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति होने पर तत्त्व-दृष्टि होती है। तत्त्वदृष्टि में तत्त्व से भिन्न कुछ नहीं प्रतीत होता। भाव का सद्भाव होने पर भक्त-दृष्टि होती

है। भक्त-दृष्टि में प्रेम-पात्र से भिन्न कुछ नहीं रहता। तत्त्व-दृष्टि और भक्त-दृष्टि दोनों में ही सृष्टि का अभाव है। सृष्टि तो केवल अपने में विषय-भाव को धारण करने पर प्रतीत होती है। विषयासक्त प्राणी मानी हुई सत्ता को स्वीकार करता है। सृष्टि की प्रतीति का कारण विषयासक्ति ही है। अत: विषय-जन्य स्वभाव का अन्त करना अनिवार्य है।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों से असंग होने पर तुरीयावस्था का अनुभव होता है। अथवा यों कहिए, तीनों शरीरों- स्थूल, सूक्ष्म और कारण-से असंग होने पर तुरीयावस्था प्राप्त होती है। स्थूल शरीर से जो अनुभव में आता है वह जाग्रत है, सूक्ष्म शरीर से जो अनुभव में आता है वह स्वप्न है, और जो केवल कारण शरीर से अनुभव में आता है वह सुषुप्ति है। स्थूल शरीर से जाग्रत की प्रवृत्ति होती है, मन से चिन्तन होता है। अत: जाग्रत अवस्था से असंग होने के लिए इन्द्रिय-विषयों से सम्बन्ध-विच्छेद करना होगा और विषय-चिन्तन को त्यागकर अचिन्त होना होगा। अचिन्त होते ही निर्विकल्प स्थिति प्राप्त होगी और निर्विकल्प स्थिति से असंग होने पर निर्विकल्प बोध होगा, जो तीनों शरीरों से असंग करने में समर्थ है। अथवा यों कहिए कि निर्विकल्प-बोध होने पर तीनों शरीरों से असंगता होती है। यही तुरीयावस्था है।

सविकल्प समाधि में बुद्धि सूक्ष्म शरीर में लय होती है और निर्विकल्प समाधि में बुद्धि कारण शरीर में सम होती है। कार्य कारण की अपेक्षा परतन्त्र है। इसी कारण निर्विकल्प समाधि में सविकल्प समाधि की अपेक्षा अधिक रस है। यह सही है कि अनित्य रसों में निर्विकल्प समाधि का रस सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु जिज्ञासु को तो सभी अनित्य रसों का त्याग करना है। अनित्य रसों का त्याग करना ही पूर्ण जिज्ञासा है। पूर्ण जिज्ञासा होने पर तत्त्व-ज्ञान स्वत: हो जाता है। तत्त्व-ज्ञानपूर्वक तत्त्वनिष्ठा होने पर शक्ति और शान्ति दोनों ही की प्राप्ति होती है। ज्ञान-रहित निष्ठा यानी केवल समाधि से सिर्फ शक्ति प्राप्त होती है। यदि शक्ति का सदुपयोग न किया गया, तो वह शक्ति समाप्त हो जाती है। शक्ति का सदुपयोग करने के लिए चित्त-शुद्धि आवश्यक है, जो केवल विषय-विराग से ही हो सकती है।

विश्व के साथ एकता का भाव रखना आवश्यक है और विश्व की सेवा विश्वनाथ के नाते करनी है। सेवा की पूर्णता में विषय-विराग हो जाता है। जिस कर्म से विषय-विराग न हो, वह कर्म अधूरा है। अधूरा कर्म करने वाला प्राणी कर्म के राग से छूट नहीं पाता। करने का अन्त तभी हो सकता है, जब कर्त्ता पवित्र भाव से, लक्ष्य पर दृष्टि रखकर, पूरी शक्ति लगाकर कर्म को करता है।

भक्त प्रेमपात्र के नाते सेवाभावपूर्वक सभी आवश्यक कर्म करता है। कर्म के अन्त में भक्त को प्रेमास्पद का स्मरण या ध्यान स्वत: होता है। स्मरण-ध्यान से जब असह्य व्याकुलता होती है, उसी काल में भक्त प्रेमपात्र से अभिन्न हो जाता है।

चित्त पर जब विषयों का प्रभाव होता है, तब प्राणी की प्रत्येक प्रवृत्ति दोष-पूर्ण होती है। चित्त के शुद्ध हो जाने पर उसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक तथा पवित्र होती है। स्वाभाविक और शुद्ध प्रवृत्ति होने पर अन्त:करण अपने कारण में विलीन हो जाता है। फिर इन्द्रियों की क्रिया निर्जीव मशीन की भाँति होती रहती है। अन्त:करण के शुद्ध होने पर सत्य की जिज्ञासा जाग्रत होती है और फिर सत्य की कृपा से सत्य का स्वत: अनुभव हो जाता है। अत: सत्य का अनुभव करने के लिए और जीवन की पूर्णता के लिए अन्त:करण की शुद्धता अत्यावश्यक है।

विचार-मार्ग और विश्वास-मार्ग, दोनों के भिन्न-भिन्न उसूल हैं। विचार -मार्ग में ज्यों-ज्यों विचार बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों क्रिया की कमी होती जाती है। पूर्ण विचार होने पर पूर्ण अक्रियता हो जाती है। पूर्ण अक्रियता से पूर्ण अनुभव और फिर पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होती है। फिर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती।

विश्वास-मार्ग में स्मरण, चिन्तन और ध्यान बार-बार करना होता है। जब विरहाग्नि असह्य हो जाती है, तब सत्य से मिलन हो जाता है। विरह और मिलन दोनों का रस नित्य है तथा उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है।

सर्व-समर्थ प्रभु आपको अखण्ड आनन्द प्रदान करें!

इसी सद्‌भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (43)

**मेरे निजस्वरूप उपस्थिति महानुभाव!**

ज्ञान क्या है? अनन्त का प्रकाश। यह प्रत्येक भाई को प्रत्येक बहन को स्वत: प्राप्त है। ज्ञान के आदर से त्याग का बल आता है। त्याग क्या है? मैं शरीर और संसार से अलग हूँ। इसका फल क्या है? अचाह होना, निर्मम होना और निष्काम होना। अचाह से निर्वासना की अभिव्यक्ति हुई और योग की

प्राप्ति हुई। योग जो है वह शक्ति का प्रतीक है, अर्थात् योग से सामर्थ्य आती है। यदि उस सामर्थ्य का दुरुपयोग न किया जाए, तो स्वतः बोध की ओर प्रगति होती है सामर्थ्य का स्वरूप है कि जो करना चाहिए, वह होने लगे तथा जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही न हो। यानी कर्त्तव्यपरायणता जीवन में आ जाए।

समाज में विद्रोह की उत्पत्ति तभी होती है, जब व्यक्ति कर्त्तव्य-परायण नहीं रहता। यदि सभी अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करें, तो समाज में किसी के अधिकार का अपहरण न हो और स्नेह का आदान-प्रदान होने लगे। परन्तु जब ऊपरी भेद में सद्‌भाव करने पर मानव में असहनशीलता, संकीर्णता, दुराग्रह आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं, तब स्नेह की भूख होने पर भी स्नेह का आदान-प्रदान असम्भव हो जाता है। अपनी-अपनी विचारधारा और स्वार्थभाव को लेकर प्राणी वह कर बैठता है, जो नहीं करना चाहिए। अकर्त्तव्य के साथ-साथ किया हुआ कर्त्तव्य वास्तव में अकर्त्तव्य ही है। अकर्त्तव्य के नाश होने पर अल्प से अल्प कर्त्तव्य भी शान्ति, सामर्थ्य और स्वाधीनता में हेतु बन जाता है। अकर्त्तव्य के त्याग में ही मंगलमय विधान से कर्त्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति होती है। अथवा यों कहिये कि जो नहीं करना चाहिए, उसका न करना ही प्राणी का पुरुषार्थ है।

जिस प्रकार भाषा का भेद होने पर भी अर्थ का भेद नहीं होता, उसी प्रकार कर्त्तव्य को प्रेरित करने वाली मान्यताओं में भेद होने पर भी वास्तविक जीवन में कोई भेद नहीं है। क्योंकि सभी की माँग में एकता है। भेद से अभेद की ओर, असत्य से सत्य की ओर एवं अकर्त्तव्य से कर्त्तव्य की ओर अग्रसर होने में ही सभी का हित निहित है। जिन मान्यताओं से अकर्त्तव्य की उत्पत्ति हो, वे सभी के लिए त्याज्य हैं, और जो मान्यताएँ कर्त्तव्य को जन्म देती हों, वे सभी को मान्य हैं।

जिस व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश से दूसरे व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश को भय होता हो, तो समझना चाहिए कि भय देने वाला पक्ष विश्व में विद्रोह तथा संघर्ष को जन्म दे रहा है। भय देने वाला दूसरों से भयभीत भी रहता है। प्राकृतिक नियमानुसार भयभीत उन्हीं को होना पड़ता है, जो अपने से निर्बलों को भय देते हैं। भय का कारण भेद है। यदि अनेक प्रकार के बाह्य भेद होने पर भी स्नेह की एकता स्वीकार कर ली जाए, तो भेद में अभेद का दर्शन होने लगे और सभी प्रकार के भय मिट जाएँ।

प्राकृतिक नियमानुसार शरीर विश्वरूपी सागर की एक नन्हीं-सी बूँद है। शरीर की ममता ने ही विश्व-प्रेम का हनन किया है। उसका बड़ा ही भयंकर

परिणाम यह हुआ है कि प्रीति की एकता नहीं रही। यह किसी भी दृष्टिकोण से सिद्ध नहीं होता कि समस्त विश्व एक इकाई नहीं है। फिर सुख-लोलुपता और स्वार्थभाव के कारण सर्वात्मभाव की उपेक्षा कर संकीर्णता में आबद्ध होना क्या प्रमाद नहीं? जो प्रेम किसी सीमा में आबद्ध है, वह तो ममता, मोह और आसक्ति हैं, जिनसे सभी का अहित ही होता है।

सच्चे गुरु की पहचान क्या है? जो स्वयं अपना गुरु, नेता और शासक है और जिसके पीछे चलकर समाज प्रगति करता है। ऐसे गुरु को अपने लिए संसार की आवश्यकता नहीं होती, संसार को उसकी आवश्यकता रहती है। जिस प्रकार हिमालय से अनेक नदियाँ निकलकर भूमि को हरा-भरा बनातीं हैं, उसी प्रकार सच्चे गुरु से प्रेम की धारा निकलकर विश्व में चिर-शान्ति तथा आनन्द का वातावरण तैयार करती है। ऐसा गुरुपद मानवमात्र को मिल सकता है। परन्तु कब? जब वह निज विवेक के प्रकाश में अपने जीवन में से विवेक-विरोधी कर्म, विवेक-विरोधी सम्बन्ध और विवेक-विरोधी विश्वास का अन्त कर सब प्रकार से निश्चिन्त और निर्भय हो जाए।

आप अपने निज-ज्ञान के प्रकाश में विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध और विश्वास का अन्त कर अपने नेता, गुरु और शासक बन जाएँ, इसी सद्भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (44)

**मरे निजस्वरूप साधक वृन्द!**

वास्तव में ज्ञान में ही जीवन है और जीवन में ही ज्ञान है। जीवन और ज्ञान में विभाजन सम्भव ही नहीं है। वास्तविक ज्ञान में निस्सन्देहता है और अधूरे ज्ञान में सन्देह है। सन्देह की वेदना में ही जिज्ञासा की जागृति है। जिज्ञासा की पूर्ति में ही वास्तविक ज्ञान है। अधूरी जानकारी में ही प्रश्न उत्पन्न होते हैं। जब तक सन्देह की वेदना सबल नहीं होती, तब तक कामना-पूर्ति के सुख का प्रलोभन नाश नहीं होता। सुख के प्रलोभन से कामना-पूर्ति की दासता उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण जिज्ञासा की पूर्ति और परम प्रेम का उदय नहीं होता।

किसी भी प्राणी को रस-विहीन जीवन प्रिय नहीं है। सभी को रस और जीवन दोनों की ही आवश्यकता है। जीवन उसे नहीं कहते, जिसका कभी अभाव हो अथवा जिसमें परिवर्तन हो और रस उसे नहीं कहते, जिसकी क्षति, पूर्ति या निवृत्ति हो। यह स्पष्ट ही है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील तथा विनाशी है। इस दृष्टि से वस्तु से अपने को तद्रूप करने में न तो जीवन ही है और न रस की उपलब्धि है। जब प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति-विनाश-युक्त है और उसका अदर्शन होता है, तब उसमें जीवन-बुद्धि रखना कुछ अर्थ नहीं रखता।

वस्तुओं में सत्यता और सुन्दरता का भास मृत्यु की ओर ले जाता है और वस्तुओं के परिवर्तन तथा अदर्शन का ज्ञान जीवन और रस की माँग जाग्रत करता है। खिन्नता और मृत्यु का भय सजगता प्रदान करता है। पर कब? जब खिन्नता और मृत्यु के भय से साधक अधीर न हो, अपितु उस भय और खिन्नता का नाश करने के लिये नित-नव उत्साहपूर्वक साधन में तत्पर रहे।

जिज्ञासा और कामना का द्वन्द्वात्मक रूप वस्तुओं में अहं-बुद्धि होने से बनता है। जिज्ञासा की पूर्ति के बाद उस द्वन्द्वात्मक रूप का अन्त हो जाता है। अत: वस्तु में से अहम्-भाव का त्याग अनिवार्य है। फिर ज्ञान और जीवन में भेद नहीं रहता। यही सफलता की कुंजी है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (45)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

सच बात तो यह है कि जब अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों का नाश हो जाता है, तब आवश्यक और शुद्ध संकल्प अपने आप पूरे होने लगते हैं और साधक नि:संकल्पता की शान्ति प्राप्त कर लेता है। उस शान्ति में से विचार का उदय होता है जो अविनाशी का बोध कराता है अथवा यों कहो कि असत् की वास्तविकता का अनुभव हो जाता है। उसी शान्ति में से अखण्ड स्मृति जाग्रत होती है, जो प्रेम-तत्त्व से अभिन्न करती है। और उसी शान्ति में से वह सामर्थ्य प्राप्त होती है, जो साधक को कर्त्तव्य-परायण बनाती है। अत: नि:संकल्प होना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है।

अब विचार यह करना है कि हम नि:संकल्प क्यों नहीं हो पाते? इसके मूल में अपनी यही भूल है कि हमने संकल्प को ही अपना जीवन मान लिया है। सोचते हैं कि हमारा कोई संकल्प नहीं होगा तो हमारा जीवन ही नहीं रहेगा। यह बात भूल जाते हैं कि संकल्प की पूर्ति विधान से होती है, न कि संकल्प करने से। यदि संकल्प करने से ही संकल्प पूरे हो जाते, तो सभी संकल्प सभी के पूरे हो गए होते। परन्तु आज तक विश्व के इतिहास में ऐसा कोई मानव नहीं हुआ कि जिसके सभी-संकल्प पूरे हो गए हों। इसका अर्थ है कि संकल्प किसी विधान से ही पूरे होते हैं। मूल बात तो यह है। फिर भी यदि आप संकल्प-पूर्ति को ही जीवन मानते हैं, तो गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर स्पष्ट विदित होगा कि प्रत्येक संकल्प की पूर्ति नवीन संकल्प को जन्म देती है और अन्त में संकल्प-अपूर्ति ही शेष रहती है। तो इससे मिला क्या? अशान्ति, क्षोभ, क्रोध और पराधीनता। यह तो कोई जीवन नहीं हुआ। यदि देखा जाय, तो अपना संकल्प ही अपनी दुर्गति का मूल कारण है।

यह सही है कि अहं में संकल्प का स्फुरण होता है। साधक का कर्त्तव्य है कि उस उठने वाले संकल्प पर विचार करें। यदि वह विवेक-विरोधी है अर्थात् किसी के लिए भी अहितकार है तो उसे वहीं समाप्त कर देना है। यदि विवेक से समर्थित है, परन्तु उसे पूरा करने की सामर्थ्य नहीं है, तो उस संकल्प को विश्व के संकल्प में विलीन कर दो, कि यदि विश्व चाहेगा, तो उसको पूरा करेगा। जीवन के अध्ययन से यह पता चलता है कि कालान्तर में विश्व की ओर से शुद्ध संकल्प की पूर्ति के लिए स्वत: संकल्पकर्ता में सामर्थ्य आ जाती है, फिर उसे वह पूरा कर डालता है। आस्तिक साधक सामर्थ्य-विरोधी शुद्ध संकल्प को प्रभु के संकल्प में विलीन कर निश्चिन्त हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध संकल्प स्वत: पूरे हो जाते हैं। विवेक-विरोधी अर्थात् अशुद्ध संकल्पों को स्थान ही नहीं देना है।

जो संकल्प वर्तमान से सम्बन्ध नहीं रखता, अर्थात् जिसको भविष्य में पूरा करना है, उसे भी कार्य-योजना बनाकर, छोड़ देना है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो संकल्प वर्तमान में पूरा करने का हो, विवेक-विरोधी न हो, सामर्थ्य-विरोधी न हो, किसी के लिए भी हानिकारक न हो, उसे तुरन्त पुरा कर डालो तथा निश्चिन्त हो जाओ। उसके परिणाम पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

देखो, यदि आप संकल्प-पूर्ति में ही अपने जीवन का सर्वस्व मान लेते हैं, तो आपको नि:संकल्पता नहीं मिलेगी और नि:संकल्पता के बिना आपका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। यह भी ध्यान रखना है कि संकल्प-निवृत्ति की

शान्ति प्राप्त तो करनी है, परन्तु उसमें रमण नहीं करना है। शान्ति में रमण करने से स्वाधीनता प्राप्त नहीं होगी। यानी आप अमर जीवन नहीं प्राप्त कर पाएँगे। परम प्रेम की प्राप्ति में ही वह अगाध-अनन्त रस है, जो साधक और साध्य दोनों को ही आह्लादित करता है। यही मानव-जीवन की पूर्णता है। यही जीवन का लक्ष्य है।

कहने का तात्पर्य क्या निकला? साधक को सर्वप्रथम अपने अहं में उठने वाले संकल्प पर विचार करना है। अशुद्ध संकल्पों का त्याग करना है, अनावश्यक संकल्पों को छोड़ देना है। शुद्ध और आवश्यक संकल्प को परिस्थिति के अनुसार पूरा कर निश्चिन्त हो जाना है। जो संकल्प सामर्थ्य-विरोधी है, पर सर्व-हितकारी है, उसे विश्व अथवा विश्वनाथ को समर्पित कर निश्चिन्त होना है। यह हमारा-आपका पुरुषार्थ है। आप इस पुरुषार्थ को पूरा करने में समर्थ हों, इसी सद्भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

**(46)**

**मेरे निजस्वरूप परमप्रिय साधक महानुभाव!**

साधन तत्त्व है, अपने साध्य की अगाधप्रियता! इसका वास्तविक मूल्य है, आत्मीयता। साधनरूप प्रवृत्ति की कसौटी यह है कि जो अपने लिए प्रसन्नता देने वाली हो और दूसरों के लिए हितकर हो। निवृत्ति की कसौटी यह है कि वह विश्रामप्रद हो। जिस साधन से विश्राम नहीं मिलता वह असाधन ही है।

दार्शनिक भेद होने पर भी जीवन में भेद नहीं होता। नित्य जीवन की ओर गतिशील होने पर प्रीति की एकता सुरक्षित हो जाती है। प्रीति स्वतन्त्र नित्य तत्त्व है। सेवा प्रीति का क्रियात्मक रूप है। सेवक सेवा होकर सेव्य की प्रीति हो जाता है, जो वास्तविक जीवन है। प्राकृतिक नियमानुसार सेवा की सद्भावना तथा तत्परता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों सेवा की सामर्थ्य स्वत: मंगलमय विधान से प्राप्त होती जाती है।

सेवक के हृदय में सतत पर-पीड़ा उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, जिससे वह सेवा से अभिन्न हो जाता है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश पा जाता है, जो समस्त साधनों का फल है।

साधक का अर्थ है कि जिसे सत्संग करने की स्वतन्त्रता हो और सिद्धि का अर्थ है कि जीवन उपयोगी हो जाए। सत्संग का अर्थ अभ्यास नहीं है, असत् का त्याग ही सत्संग है। असत् का त्याग ही सत्संग का मूल आधार है। हमारे शरीर, मन, वाणी, कर्म से कभी किसी का बुरा न हो, यही वास्तविक सत्संग है। हम कभी-भी बुराई नहीं करेंगे, इस सत्य को स्वीकार कर लें। प्राप्त बल का दुरुपयोग ही बुराई है। हमारे पास जो तन का, धन का, योग्यता का बल है, उसका सदुपयोग करना ही सत्संग का रहस्य है।

राष्ट्र और मजहब दोनों का निर्माण जीवन में से बुराई निकाल देने के लिये हुआ। परन्तु इनकी आड़ में बुराई हुई और हो रही है। राष्ट्र न्याय का पाठ पढ़ाता है और मजहब प्रेम का। न्याय का अर्थ है, अपराधी अपने अपराध से परिचित हो जाए, फिर पीड़ित हो जाए और अपराध न करने का व्रती हो जाए, ऐसा न्याय तो मनुष्य अपने साथ ही कर सकता है। जब तक मनुष्य अपने साथ न्याय नहीं करता, तब तक वह सत्संग का अधिकारी नहीं है।

प्रेम कहता है कि अपने अधिकार का त्याग करो। अधिकार-त्याग के बिना एकता रह नहीं सकती, जो प्रेम की प्रतीक है। जहाँ अपने ही लाभ का ध्यान है, वहाँ ईमानदारी रह नहीं सकती। ईमानदारी के बिना प्रेम का प्रादुर्भाव होता ही नहीं। ईमानदारी से मुहम्मद ने ईश्वर को अपना दोस्त माना, ईसा ने पिता माना और मीरा ने पति माना। सच तो यह है कि ईश्वर की हम सबका अपना है। उसके सिवा और कोई अपना नहीं है। अत: केवल ईश्वर को ही अपना मानना ईमानदारी है।

ईमानदारी का मूल्य सुख-सुविधा नहीं है। ईमानदारी स्वयं में फल है। यदि प्रत्येक भाई-बहन अपने जीवन में ईमानदारी को अपना लें, तो विश्व शान्ति, अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण स्वत: हो जाए।

भक्ति भक्त का जीवन है और भगवान् का स्वभाव है। भक्त वह है, जो केवल भगवान् को ही अपना मानता है। भगवान् मिलें, न मिलें, उनकी इच्छा। उनसे कुछ लेना नहीं है। केवल भगवान् को अपना मान लेना ही भगवान् को प्रिय है। शान्ति, मुक्ति से भी बढ़कर भक्ति है।

भगवान् के होकर सदा के लिए निश्चिन्त और निर्भय हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

## (47)

**मेरे निजस्वरूप परमप्रिय साधक महानुभाव!**

यह प्राकृतिक नियम है कि जो किसी को भी भय देता है अथवा दबाता है, उसे स्वयं भी भयभीत होना पड़ता है और उसकी विरोधी शक्ति उसे अवश्य दबाती है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में किसी को भी भय देने तथा दबाने का कोई स्थान नहीं है।

वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा सुख की आशा से भोग की रुचि पुष्ट होती है। वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों वस्तु-व्यक्ति आदि के द्वारा सुख की आशा का त्याग स्वतः होता जाता है। जिस काल में वस्तुओं की वास्तविकता का बोध हो जाता है, उसी काल में उनके द्वारा सुख की आशा का सर्वांश में नाश हो जाता है, जिसके होते ही समस्त वस्तुओं से स्वत; विमुखता हो जाती है। वस्तुओं की विमुखता में ही अनन्त की सम्मुखता निहित है।

समस्त सृष्टि को वस्तु के अर्थ में ही लेना चाहिए। क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञान से भले ही वस्तुएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हों, पर बुद्धि के ज्ञान से समस्त वस्तुएँ एक हैं और बुद्धि से अतीत के ज्ञान में वस्तुओं का अभाव है। अथवा यों कहो कि इन्द्रिय-ज्ञान से अनेक वस्तुएँ सत्य प्रतीत होती हैं और बुद्धि-ज्ञान से अनेक वस्तुओं में एकता और परिवर्तन प्रतीत होता है। और बुद्धि से अतीत के ज्ञान में समस्त वस्तुएँ अभावरूप हैं।

संकल्प-पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करने पर कोई भी व्यक्ति जड़ता, पराधीनता, शक्तिहीनता आदि दु:खों से नहीं बच सकता और न अपने को देह से भिन्न अनुभव कर सकता है। अथवा यों कहों कि वह अपने में से देहभाव का त्याग नहीं कर सकता। संकल्प-पूर्ति के जीवन ने ही देह से तादात्म्य दृढ़ किया है। इसी कारण बेचारा संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध साधक अपने को देहाभिमान से रहित नहीं कर पाता।

इस जड़ता के जीवन से ऊपर उठने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्राप्त वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य का सद्व्यय दुखियों की संकल्प-पूर्ति में हो। ऐसा करने से चित्त करुणित होगा। चित्त के करुणित होने से जड़ता कोमलता में परिवर्तित हो जाएगी और सुख-भोग की रुचि स्वतः मिट जाएगी, जिसके मिटते ही सभी का दु:ख अपना और अपना सुख सभी का हो जाएगा।

ऐसा होते ही प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन मिट जाएगा, जिसके मिटते ही वस्तुओं से असंगता हो जाएगी, जो सभी दोषों को अन्त करने में समर्थ है। दोषों के अन्त में निर्दोषता की उपलब्धि स्वतः

सिद्ध है। आप सभी साधक महानुभावों का जीवन निर्दोष हो जाए तथा आप योग, बोध, प्रेम प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाएँ, इसी सद्भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (48)

**मेरे निजस्वरूप उपस्थित साधक महानुभाव!**

साधन और जीवन में एकता प्राप्त करने के लिए किसी अप्राप्त परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि साधन-दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। परिस्थिति-परिवर्तन की कामना उन्हीं प्राणियों में रहती है, जो परिस्थिति को ही जीवन मान लेते हैं। यद्यपि परिस्थिति-परिवर्तन के लिये भी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग की करना पड़ता है। साधन-बुद्धि से परिस्थिति का सदुपयोग अभाव का अभाव करने में समर्थ है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब साधन में ही जीवन स्वीकार कर लिया जाए। अत: साधन से भिन्न भी जीवन है, इस स्वीकृति का अत्यन्त अभाव अनिवार्य है।

भौतिक दृष्टि से वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म को सुन्दर समाज के निर्माण तथा विश्व-प्रेम की प्राप्ति के लिए साधन-बुद्धि से करना है। अध्यात्म दृष्टि से वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म को राग-निवृत्ति और सर्वात्म भाव की प्राप्ति के लिए साधन-बुद्धि से करना है। और आस्तिक दृष्टि से प्रत्येक वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म अपने प्यारे की पूजा के भाव से करना है। यह नियम है कि जिसकी पूजा की जाती है, पुजारी को पूजा के अन्त में उसी का प्रेम प्राप्त होता है।

साधन जीवन है और जीवन साधन है। प्रत्येक साधक साधन होकर ही अपने साध्य से अभिन्न होता है। इसके लिए साधक को प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म साधन-बुद्धि से ही करना होगा। साधन-बुद्धि से किया हुआ कार्य भौतिकवादी साधक को विश्व-प्रेम से अभिन्न करता है, अध्यात्मवादी साधक को आत्म-रति तथा आस्तिकवादी साधक को प्रभु-प्रेम प्रदान करता है। तीनों ही दृष्टियों से साधकों को एकमात्र प्रेम ही प्राप्त होता है। उस प्रेम का आरम्भ चाहे जैसे हो, अन्त में प्रेम विभु होकर अनन्त बन जाता है। प्रेम-प्राप्ति में ही जीवन की सार्थकता तथा साधन की पूर्णता निहित है।

विवेक का अनादर करने से प्राणी व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध हो जाता है, जो समस्त अनर्थों का मूल है। व्यक्तित्व का मोह भेद और भिन्नता को जन्म देता है। भेद से भय पैदा होता है, जो साधक को साधननिष्ठ नहीं

होने देता। भिन्नता द्वेष को उत्पन्न करती है, जो स्नेह की एकता का अपहरण कर लेती है और मानव को कर्त्तव्यपरायणता से विमुख करती है।

सुख-दु:ख का भोग असाधन और सदुपयोग साधन है। संकल्प की उत्पत्ति में और अपूर्ति में दु:ख होता ही है। संकल्प की पूर्ति में क्षणिक सुख प्रतीत होता है। सुख-दु:ख का सदुपयोग वही साधक कर पाता है, जो अपने सभी संकल्पों को विश्व अथवा विश्वनाथ के संकल्प में विलीन कर देता है और स्वयं नि:संकल्प हो जाता है। नि:संकल्पता को सुरक्षित रखने के लिए संकल्प-पूर्ति में जो महत्व-बुद्धि बन गई है, उसका अन्त करना अनिवार्य है।

वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि से नित्य सम्बन्ध बना रहे, यह सम्भव नहीं है। अत: यह विवेक-विरोधी मान्यता है, जो असाधन है। भूतकाल की घटनाओं का चिन्तन करना और उनके अर्थ को न अपनाना भी विवेक-विरोधी है। इस व्यर्थ-चिन्तन ने ही सार्थक चिन्तन को उदित नहीं होने दिया और वर्तमान को नीरस बना दिया। इस दृष्टि से जो हो चुका है उसका चिन्तन करना और उसके अर्थ को न अपनाना असाधन ही है।

वर्तमान की नीरसता ने ही मानव को क्षोभित तथा क्रोधी बना दिया। क्षोभ और क्रोध ने अपने कर्त्तव्य की, निजस्वरूप की और अनन्त की विस्मृति करा दी। कर्त्तव्य की विस्मृति से अकर्त्तव्य को जन्म मिला, निज-स्वरूप की विस्मृति से मानव देह-अभिमान में आबद्ध हुआ और अनन्त की विस्तृति ने प्राणी को आसक्ति से पीड़ित किया।

आप सभी महानुभाव साधननिष्ठ होकर कृतकृत्य हो जाएँ, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (49)

**मेरे निजस्वरूप परमप्रिय साधक महानुभाव!**

सच बात तो यह है कि जिसको अमरत्व की अभिलाषा होती है, उसी को अमरत्व प्राप्त होता है। मानव जीवन दो प्रकार की इच्छाओं का समूह है, भोग की चाह और अमरत्व की अभिलाषा। भोग की चाह के लिए शरीर आदि मिले हैं परन्तु अमरत्व की अभिलाषा के लिए किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की आवश्यकता नहीं होती। जिस काल में अमरत्व की अभिलाषा पूर्णरूप से

जाग्रत हो जाती है, उसी समय भोग की चाह मिट जाती है। फिर अमरत्व की अभिलाषा स्वतः पूरी हो जाती है।

भोग की चाह मिटते ही इन्द्रियाँ अविषय हो जाती हैं। फिर मन निर्विकल्प हो जाता है और बुद्धि अपने अधिष्ठान में विलीन हो जाती है। यही योग है। इस योग से वह सामर्थ्य आती है, जिससे मानव कर्त्तव्य-कर्म में प्रवृत्त होता है। अर्थात् जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है और जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती।

अपने साधन के प्रति यह आवश्यक है कि वह अपने लिए रुचिकर हो। हाँ, यह अवश्य है कि साधन रुचिकर होते हुए भी विवेक-विरोधी न हो। क्योंकि जो रुचि विवेक-विरोधी होती है, वह भोग है, साधन नहीं। असाधन के रूप में साधन करना साधन नहीं है, अपितु असाधन ही है, जो वास्तव में त्याज्य है। वस्तु, व्यक्ति आदि में सत्यता और सुन्दरता रुचिकर हो सकती है, किन्तु वह रुचि विवेक-विरोधी है, क्योंकि कोई भी वस्तु ऐसी हो ही नहीं सकती, जिसकी सुन्दरता नित्य हो, जिसमें मलीनता न हो और जो अविनाशी हो तथा जिससे नित्य सम्बन्ध सुरक्षित रह सके। ऐसी स्थिति में वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा साधन हो सकता है, उनकी ममता और उनका भोग साधन नहीं हो सकता। अतः योग्यता, ईमानदारी, परिश्रमपूर्वक उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन तथा उनका सदुपयोग एवं निर्मोहतापूर्वक व्यक्तियों की सेवा करने की रुचि में निज-विवेक का विरोध नहीं है।

वह साधन भी साधक के लिए स्वाभाविक तथा हितकर नहीं हो सकता, जो साधन उसकी परिस्थिति के प्रतिकूल हो। क्योंकि परिस्थिति के प्रतिकूल साधन कभी क्रियात्मक नहीं हो सकता। यह नियम है कि सक्रिय साधन के बिना करने के राग का नाश सम्भव नहीं है, जिसके हुए बिना साधन सार्थक सिद्ध नहीं होगा और न उस साधन की अभिव्यक्ति होती है, जो स्वभाव से ही निरन्तर होता रहे, जिसमें करने की गन्ध न हो। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वह साधन नहीं है, जो प्राप्त परिस्थिति के प्रतिकूल हो।

समस्त साधनों का आरम्भ होता है, सुख की आशा से रहित की हुई सेवा से; क्योंकि यह कर्त्तव्य-विज्ञान है। और समस्त साधनों का अन्त होता है, प्रीति की अभिव्यक्ति में। क्योंकि प्रीति से ही अपने साध्य को रस मिलता है। इस दृष्टि से सुख की आशा का त्याग और प्रेमास्पद को रस देने की उत्कट लालसा में ही साधन-तत्त्व से अभिन्नता हो सकती है, जिसके होते ही साधन में स्वाभाविकता आ जाती है, जो सभी साधकों को अभीष्ट है।

साधन की लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है। त्यों-त्यों असाधन-जनित कामनाएँ अपने आप मिटती जाती हैं। ज्यों-ज्यों असाधन-जनित कामनाएँ मिटती जाती हैं, त्यों-त्यों साधन की लालसा वर्तमान जीवन की वस्तु होती जाती है। यह नियम है कि जो लालसा वर्तमान जीवन से सम्बन्ध रखती है, उसकी पूर्ति स्वत: हो जाती है। साधन की लालसा की पूर्ति में ही साधक का अस्तित्व साधन होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है। साधन साधन-तत्त्व के समान ही नित्य-तत्त्व है। इस कारण प्रत्येक साधक का साधन-सम्पन्न होना अनिवार्य है।

आप सभी महानुभाव साधन-सम्पन्न हों, साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाएँ, इसी सद्भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (50)

**मेरे परमप्रिय साधक महानुभाव!**

वर्तमान की नीरसता कर्त्तव्य से विमुख कर देती है और फिर प्राणी अकर्त्तव्यपूर्वक गलत ढंग से उस नीरसता को मिटाने का प्रयास करता है। परन्तु उससे नीरसता मिटती नहीं, प्रत्युत् उत्तरोत्तर बढ़ती ही है। वर्तमान की नीरसता के कारण ही प्राणी क्षोभित और क्रोधित होता है। क्षोभित होने से शक्ति का ह्रास और क्रोधित होने से प्रमाद की उत्पत्ति होती है। फिर प्राणी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में अपने को असमर्थ बना लेता है।

यह नियम है कि प्राणी अधीर हो जाने पर जानते हुए भी न जानने के समान हो जाता है। इतना ही नहीं, वह जो कर सकता है, उसके करने में अपने को असमर्थ मान बैठता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह न होने वाली बातों का चिन्तन करने लगता है। इस भयंकर परिस्थिति में प्राणी पागल हो जाता है। वह कभी-कभी आत्महत्या तक कर डालता है।

प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से ही वर्तमान सरस होता है। अत: प्राप्त परिस्थिति का अनादर करना सर्वथा त्याज्य है। प्राप्त परिस्थिति के अनादर या दुरुपयोग से अपने प्रति ग्लानि तथा प्राप्त परिस्थिति से खीझ होने लगती है,

जिससे स्वभाव में चिड़चिड़ापन और कटुता आ जाती है और मानसिक व्यथा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

ऐसी दशा में किसी प्रकार यदि उसे अपने पर विश्वास हो जाए और प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में लग जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसके सभी दोष मिट जाएँगे तथा वर्तमान सरस हो जाएगा। इसके लिये उसे अपनी परिस्थिति के अनुसार किसी-न-किसी शुभ कार्य में लग जाना चाहिए।

जब शरीर श्रमी हो जाता है, तब संयम तथा सदाचार स्वत: आने लगते हैं, जिनके आते ही मानसिक खीझ स्वत: मिटने लगती है। ज्यों-ज्यों खीझ मिटती जाती है, त्यों-त्यों मन स्थिर और शान्त होने पर पराधीनता मिटने लगती है और स्वाधीनता जीवन में आ जाती है। स्वाधीनता से जीवन सभी के लिये उपयोगी बन जाता है।

ऐसी बात नहीं है कि नीरसता केवल प्रतिकूलता से ही आती है। कितनी ही भयंकर प्रतिकूलता क्यों न हो, यदि प्राणी हार स्वीकार न करे और धैर्य को न त्यागे, तो प्रतिकूलता उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। अपितु प्रतिकूलता तो नवीन सामर्थ्य को जन्म देती है। इस दृष्टि से प्रतिकूल परिस्थिति विकास का ही साधन है, विनाश का नहीं।

प्यारी लगने वाली अनुकूलता तो प्राणी को सुख में ही आबद्ध करती है। सुख से दु:ख दब जाता है, मिटता नहीं। यह नियम है कि दबा हुआ दु:ख बढ़ता ही है। वर्तमान को सरस बनाने में अनुकूलता तभी समर्थ हो सकती है, जब प्राणी में उदारता-जनित करुणा आ जाए, यानी वह पर-दु:ख को अपना ले। इस दृष्टि से सरसता का हेतु दु:ख ही है।

आप सभी पराये दु:ख को अपनाकर अपने वर्तमान को सरस बनायें, इसी सद्भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (51)

**उपस्थित साधक महानुभाव!**

वर्तमान दशा का अध्ययन साधन-निर्माण की भूमि है। अब प्रश्न यह है कि वर्तमान दशा का अध्ययन कैसे किया जाये? तो निज-विवेक के प्रकाश में अपनी उस रुचि को देखा जाए, जो बीजरूप से विद्यमान है और उस योग्यता

को देखा जाए, जिससे विद्यमान रुचि की पूर्ति और निवृत्ति हो सके। यह नियम है कि विद्यमान रुचि की पूर्ति और निवृत्ति के बिना वास्तविक जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकती। यानी इस परिवर्तनशील क्षणभंगुर जीवन से मुक्ति नहीं मिल सकती।

वर्तमान दशा के अध्ययन से दो बातें स्पष्ट दिखाई देतीं हैं। एक तो यह कि इस परिवर्तनशील जीवन के प्रति अपना राग है और दूसरे नित्य जीवन की लालसा भी है। यही दो अपनी वर्तमान में विद्यमान रुचियाँ हैं। परिवर्तनशील से जो हमारा राग हो गया है, उसकी निवृत्ति हो जाए और नित्य जीवन की प्राप्ति हो जाए। इसी के लिये साधन-निर्माण की अपेक्षा है। और साधन-निर्माण तभी हो सकता है, जब हम अपनी वर्तमान दशा, यानी वस्तुस्थिति को भलीभाँति जान लें।

वस्तु-स्थिति को जानने के लिये हमें अपने सभी संकल्पों को भली प्रकार देखना होगा। जो संकल्प विवेक-विरोधी हैं, यानी किसी के लिये भी अहितकर हैं और जिनको वर्तमान में पूरा करना आवश्यक नहीं है, उनका त्याग करना होगा। जो संकल्प विवेक-विरोधी नहीं हैं, लेकिन अपनी सामर्थ्य से परे हैं, यानी जिन्हें हम पूरा नहीं कर सकते, उन्हें प्रभु अथवा विश्व के समर्पित कर निश्चिन्त हो जाना है। ऐसा अनुभव में आया है कि कालान्तर में ऐसे शुभ संकल्प को पूरा करने की सामर्थ्य स्वत: आ जाती है।

जो शुद्ध संकल्प होते हैं, और उन संकल्पों की पूर्ति में किसी का अहित नहीं है, वे स्वत: पूरे होते हैं, ऐसा विधान है। अशुद्ध संकल्पों के त्याग से निर्वैरता और निर्भयता आ जाती है। निर्वैरता से द्वेष मिट जाता है और प्रीति की जागृति हो जाती है और निर्भयता से आत्मविश्वास में दृढ़ता आ जाती है और अपने साधन में अविचल श्रद्धा हो जाती है।

साधननिष्ठ होने के लिये हमें इन तीन प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है-

(1) हमें क्या करना है? (2) हमें क्या जानना है? (3) हमें अपने को क्या मानना है? साधन की दृष्टि से हमें प्राप्त बल का सदुपयोग तथा प्राप्त विवेक का आदर करना है। बल के सदुपयोग से सभी निर्बलताएँ मिट जाती हैं। और विवेक के आदर से नासमझी मिट जाती है और नि:सन्देहता से जीवन और ज्ञान में भेद नहीं रहता।

हम इन्द्रियों के द्वारा विषयों को और बुद्धि के द्वारा शरीर, वस्तु, परिस्थिति, अवस्था आदि के परिवर्तनों को जानते हैं। जब तक प्राणी पर इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव रहता है, तब तक राग और द्वेष की उत्पत्ति होती रहती

है। जब बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव होने लगता है, तब राग और द्वेष त्याग और प्रेम में बदल जाते हैं।

हम अपने को साधक मानकर ही साधन-निर्माण कर सकते हैं और अपने साध्य को प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि साधक की कोई माँग होती है और उसका कोई दायित्व भी होता है। हमारी माँग है अविनाशी रसरूप जीवन की और हमारा दायित्व है, असत् के त्याग का, यानी हम प्राप्त बल का सदुपयोग और विवेक का आदर करें!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (52)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

मानवता की प्राप्ति के लिए निर्मलता, स्नेह और एकता अनिवार्य है। यह तीनों मानवता के ही विशेषण हैं। निर्मलता प्राप्त करने के लिए सेवा अनिवार्य है। सेवा उसी की हो सकती है, जिसकी दी हुई कोई भी वस्तु अपने पास हो। जो वस्तु संसार से मिली है, उसे संसार की ही सेवा में लगा देना चाहिए। सेवा का फल निर्मलता है, भोग नहीं।

निर्मलता आ जाने पर स्नेह की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। स्नेह की पूर्णता भेद को खा लेती है और एकता में विलीन हो जाती है। इस दृष्टि से निर्मलता प्राप्त होने पर स्नेह की एकता सिद्ध होती है। अथवा यों कहो कि निर्मलतारूपी भूमि में ही एकतारूपी लता फैलती है और स्नेहरूपी फल लगता है, जो स्वभाव से ही सरस और मधुर है। उस मधुर फल को प्राप्त करना ही मानव-जीवन का उद्‌देश्य है।

यह बात प्रत्येक साधक को समझ लेनी चाहिए कि हमें मुक्त उसी से होना है जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है। इस प्रकार हमें शरीर और संसार दोनों से मुक्त होना है। वह तभी सम्भव है जबकि हमारी कोई कामना न रहे, यानी हम अचाह हो जाएँ। जिस प्रकार वस्त्र में जो मलिनता आ जाती है उसी को भिन्न-भिन्न प्रकार से हटाया जाता है, उसी प्रकार हमने जो अनेक प्रकार के माने हुए सम्बन्ध स्वीकार कर लिये हैं, हमें अपने अलौकिक विवेक के प्रकाश में उनसे मुक्त होना है।

यह स्पष्ट है कि भविष्य की आशा उसके लिये की जाती है, जिसके लिये कोई कर्म अपेक्षित हो और कर्म उसी के लिए अपेक्षित होता है, जो

उत्पत्ति-विनाशयुक्त हो और जिससे देश-काल की दूरी हो। परन्तु मुक्ति के लिये कोई कर्म अपेक्षित नहीं है, क्योंकि मुक्ति किसी ऐसे तत्त्व की ओर नहीं ले जाती, जो सर्वत्र-सर्वदा न हो और जिससे जातीय तथा स्वरूप एकता न हो। मुक्ति का अभिलाषी जब चाहे तब मुक्त हो सकता है। मुक्त होने में कोई भी भाई-बहन पराधीन नहीं है। पर कठिनाई तो यह है कि मुक्त होना ही नहीं चाहते।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मुक्त होने में बाधा है? तो कहना होगा कि हम सुख-भोग की आसक्ति को भी सुरक्षित रखना चाहते हैं और मुक्ति भी चाहते हैं। पर यह दोनों साथ-साथ सम्भव नहीं हैं। सुख-भोग की आसक्ति को तो मिटाना ही पड़ेगा। उसके लिये हमें सभी कामनाओं की निवृत्ति करनी होगी और कामनाओं की निवृत्ति एकमात्र विवेक का आदर करने पर होती है।

विवेक का आदर करने की सामर्थ्य तब आती है, जब हम प्राप्त सुख को दुःखियों की सेवा में लगा देते हैं। अपने से दुःखी को देखकर ही हमें सुख की अनुभूति होती है। इस प्रकार सुख दुःखियों की देन है। यदि हम प्राप्त सुख को उदारतापूर्वक बिना किसी प्रत्युपकार की आशा के दुःखियों की सेवा में लगा दें, यानी उनकी सेवा कर दें और मुक्त हो सकते हैं।

यह सभी का अनुभव है कि अपने को देह मानकर कभी भी किसी का मन संसार से अलग नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि शरीर और संसार में जातीय एकता और गुणों की भिन्नता है। यदि विवेकपूर्वक अपने को देह न स्वीकार किया जाए, तो मन स्वभाव से ही चिन्तन-रहित होकर उस चेतन में विलीन हो जाता है जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है।

आप सभी साधक महानुभाव विवेकवित् होकर अमरत्व को प्राप्त करें, इसी सद्भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (53)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

जब हम निर्वैर हो जाते हैं, तब हम किसी का बुरा नहीं चाहते। यह नियम है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके हृदय में प्रीति का संचार होता है। प्रीति एकमात्र निर्वैरता से ही प्राप्त होती है, किसी अभ्यास का फल नहीं है। निर्वैर हम तभी हो पाते हैं, जब हम किसी को भी बुरा न समझें, किसी का भी बुरा न चाहें और किसी का किसी भी कारण से बुरा न करें।

यह भी नियम है कि निर्वैर होने से हमारे सभी मोहजनित सम्बन्ध मिट जाते हैं, जिसका फल होता है कि हमारा नित्य सम्बन्ध सर्व-समर्थ प्रभु से जुड़ जाता है, जो हमें भक्त बना देता है। इतना ही नहीं, मोहजनित सम्बन्धों के मिटने से हम संसार से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार मुक्ति और भक्ति दोनों के लिए निर्वैर होना अति आवश्यक है।

जब हम निर्वैर हो जाते हैं और प्रभु से नित्य सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, तब हमारे जीवन में किसी प्रकार की जड़ता नहीं रहती। हमारा प्रवेश प्रेम के साम्राज्य में हो जाता है। प्रेम के साम्राज्य में प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो रसरूप है। वास्तव में यही भक्ति-रस है।

प्रेम का उदय होने पर एक ही दो मालूम होते हैं। यह नहीं है कि दो होने पर प्रेम होगा। प्रेम के साम्राज्य में प्रेम के आदान-प्रदान के लिये एक ही दो हो जाते हैं। जैसे-राधा-कृष्ण, सीता-राम, शिव-पार्वती। ये सभी एक-दूसरे से अभिन्न हैं, इनका विहार नित्य है। कोई भी विचारक यह सिद्ध नहीं कर सकता कि प्रेम द्वैत सूचक है। दो में न्याय हो सकता है, प्रेम नहीं।

यह भी स्पष्ट है कि भक्ति और मुक्ति का विभाजन नहीं हो सकता। कारण, कि जो मुक्त है वही भक्त हो पाता है और जो भक्त है वही संसार से मुक्त है। शरीर और संसार से मुक्त हुए बिना क्या कोई केवल प्रभु को अपना मान सकता है और क्या प्रभु का होकर रह सकता है? कदापि नहीं।

संसार में जितने भी भक्त हुए, सभी ने संसार से नाता तोड़ा। मीरा ने क्या कहा? मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई। जब उन्होंने केवल सर्व-समर्थ प्रभु को ही अपना माना तथा सभी सगे-सम्बन्धियों से नाता तोड़ा और केवल प्रभु-विश्वास ही उनका एकमात्र सम्बन्ध रह गया, तब वे अनन्य भक्ति की अधिकारी हुईं। जब सब सम्बन्ध एक सम्बन्ध में, सब विश्वास एक विश्वास में उन्होंने विलीन कर दिए, तब वे भक्त हुईं।

तात्पर्य क्या निकला? भक्त होने के लिये मुक्त होना आवश्यक है। जिज्ञासु तत्त्वज्ञ होकर प्रभु-प्रेम प्राप्त करता है और सरल विश्वासी साधक सारे सम्बन्धों को एक सम्बन्ध में, सभी विश्वासों को एक विश्वास में विलीन कर संसार से मुक्त हो जाता है। यानी विचारक पहले शरीर और संसार की वास्तविकता जानकर नि:सन्देह होता है, जिसका फल होता है कि उसकी सभी कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं, और वह मुक्त हो जाता है। तत्पश्चात् वह सर्व-समर्थ से सम्बन्ध जोड़ता है, जो उसे भक्त बना देता है।

निर्वैरता वह साधना है जो साधक को साध्य से मिला देती है। अत: आप सभी निर्वैरता को अपनाकर मुक्त और भक्त हो जाएँ, इसी सद्भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (54)

**साधक महानुभाव!**

पाने के प्रलोभन में पराधीनता और जीने के प्रलोभन में मृत्यु का भय विद्यमान है। यदि इन दोनों प्रकार के प्रलोभनों का अन्त कर दिया जाए, तो स्वाधीन अमर जीवन प्राप्त हो जाता है। यह जानते हुए भी कि कोई भी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि में स्थायित्व नहीं है, फिर भी इनके पाने का प्रलोभन रखते हैं और यह जानते हुए भी कि शरीर हमेशा नहीं रहेगा, इसे सदैव बनाये रखने की सोचते हैं। क्या यह अपनी जानकारी का सरासर अनादर नहीं है? इस पर साधक महानुभावों को भली प्रकार मनन करना चाहिए।

अपने कल्याण का अर्थ क्या है? अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता न रहे। अर्थात् हमें अपने लिए किसी भी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि की आवश्यकता न हो। हम स्वयं में आनन्दित रहें।

सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ क्या है? जिस समाज में सभी प्राणियों के अधिकार सुरक्षित हों। कोई किसी के अधिकार का अपहरण न करता हो। गुण, परिस्थिति, कर्म आदि की भिन्नता होने पर भी आपस में प्रीति की एकता हो। जहाँ बल द्वारा बात मनवाने की आवश्यकता न हो।

सुन्दर समाज का निर्माण किसी राष्ट्र के द्वारा कभी हुआ नहीं, हो सकता नहीं। प्रत्येक भाई-बहन यह निर्णय कर लें कि इस क्षण से हम बल का दुरुपयोग नहीं करेंगे। बस, स्वतः सुन्दर समाज का निर्माण हो जाएगा।

अतः बल का सदुपयोग और विवेक का आदर करना ही हर मानव का पुरुषार्थ है। इसी पुरुषार्थ से अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण होता है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (55)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

यह सर्वविदित है कि समस्त विश्व का आश्रय और प्रकाशक एक ही है, दो नहीं। यानी विश्व जिसका कार्य है, वह कारण एक ही है। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि कारण में एकता होने पर भी कार्य में भिन्नता होती है। इतना ही नहीं, प्रत्येक कार्य अपने कारण के आश्रिय ही रहता है। यानी कार्य में सत्ता कारण की ही होती है। पर कारण की अपेक्षा कार्य में गुणों की भिन्नता होने के कारण एकता में अनेकता भासित होती है।

यदि सर्वात्मभाव स्वीकार कर लिया जाये, यानी यह जान लिया जाये कि विश्व की प्रत्येक वस्तु-व्यक्ति आदि विश्वरूपी सागर की ही लहरें हैं अथवा आस्था के आधार पर यह मान लिया जाए कि जो सारे विश्व का आश्रय तथा प्रकाशक है, उसी की अनुपम लीला के रूप में यह सारा विश्व है, तो अनेकता में एकता के दर्शन बहुत ही सुगमतापूर्वक हो सकते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि विश्व में राग-द्वेष का अन्त हो जाएगा और प्रेम का प्रादुर्भाव होगा।

प्रीति एक ऐसा अलौकिक तत्त्व है, जिसके प्रादुर्भाव से अकर्त्तव्य और राग-द्वेष की जड़ ही कट जाती है। अकर्त्तव्य के नाश में कर्त्तव्यपरायणता निहित है, जिससे सुन्दर समाज का निर्माण होता है। आसक्ति का नाश होने पर असंगता प्राप्त होती है, जिससे अपना कल्याण होता है, हम स्वाधीन होते हैं। प्रीति के प्रादुर्भाव से मानव हृदयशील बनता है और दूसरों के काम आता है।

मानव-समाज में जो आज अनर्थ दिखाई दे रहा है, उसका मूल कारण अकर्त्तव्य ही है। देहाभिमान में आबद्ध प्राणी ही अकर्त्तव्य में प्रवृत्त होता है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (56)

**साधक महानुभाव!**

वर्तमान का सदुपयोग ही भविष्य को उज्ज्वल बनाता है। वर्तमान का सदुपयोग तभी सम्भव है, जब प्राप्त कार्य को ही सर्वोत्कृष्ट कार्य मानें। विधान के अनुरूप कार्य को सम्पन्न किया जाए तथा अपने को बचाया न जाए।

जिन कार्यों से दूसरों का अहित हो, उनको तो किसी भी परिस्थिति में नहीं करना है। अकरणीय कार्यों के त्याग में ही करणीय कार्य की सामर्थ्य निहित है। जो करना चाहिये उसके करने पर निर्विकल्पता स्वत: प्राप्त होती है।

निर्विकल्पता से साधक को चिर-शान्ति तथा नित्य योग की प्राप्ति होती है। यदि निर्विकल्पता का दुरुपयोग किया गया, तो निर्विकल्पता भी नाश हो जाती है और साधक का विकास रुक जाता है। पुन: राग-द्वेष और चेष्टा आदि दोषों में आबद्ध हो जाता है।

प्रेमी तथा जिज्ञासु होने के लिए प्रत्येक कार्य को सुन्दरतापूर्वक करना आवश्यक है। कारण कि कार्य की सुन्दरता कर्ता को स्वयं कार्य के चिन्तन से मुक्त कर देती है। कार्य के चिन्तन से मुक्त होते ही प्रिय-लालसा अथवा तत्त्व-जिज्ञासा स्वत: जाग्रत होती है, जो प्रेमी तथा जिज्ञासु बनाने में समर्थ है।

किए हुए कार्य का राग तभी अंकित होता है, जब कर्ता कार्य में ही जीवन-बुद्धि कर लेता है। अथवा किए हुए कार्य का फल स्वयं भोगना चाहता है। सुख-भोग की आसक्ति ही कर्ता को परिस्थितियों में आबद्ध कर देती है और फिर प्राणी अपने को कर्ता मान लेता है। वह जिज्ञासु और प्रेमी नहीं हो पाता।

कर्ता फल की आशा में आबद्ध होकर अपने को भोग के अधीन कर लेता है और दीन हो जाता है। दीनत्व के रहते हुए अभिमान-रहित हो नहीं सकते। दीनता और अभिमान का अन्त करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि कर्ता कार्य का राग-निवृत्ति के भाव से अथवा अपने प्रिय की प्रसन्नता के भाव से सम्पादन करे।

जिस भाव से कार्य किया जाता है, कर्ता उसी भाव में विलीन होता है। यदि राग-निवृत्ति के भाव से कार्य किया जाएगा, तो कर्त्ता वीतराग हो जाएगा। वीतराग होते ही निरभिमानता आ जाती है और फिर किसी प्रकार का दीनत्व शेष नहीं रहता। दीनता और अभिमान के नाश से जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है।

जिस प्रकार कर्ता, कर्म और फल में जातीय एकता है, उसी प्रकार प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद में जातीय एकता है। वीतराग होने पर कर्ता प्रेमी हो जाता है और उसके बाद प्रेम होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है। प्रेमी होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति में अपने प्रीतम के ही दर्शन होने लगते हैं।

यह सर्वमान्य है कि प्रीतम प्रीति में ही विद्यमान है। प्रीति से ही प्रीतम को रस मिलता है। अत: प्रत्येक कार्य सुन्दरतापूर्वक करके आप सभी साधक महानुभाव अपना जीवन परम प्रेम से भरपूर कर लें, इसी सद्‌भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (57)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

सच्ची असमर्थता जीवन का वरदान है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है कि सर्व-समर्थ असमर्थ को मिलते हैं, अपना लेते हैं और अपना अमूल्य प्रेम प्रदान करते हैं। पर यह रहस्य उन्हीं साधकों को स्पष्ट होता है, जिन्होंने अपने द्वारा अपनी असमर्थता का अनुभव किया है।

अब विचार यह करना है कि असमर्थता क्या है? पराश्रय और परिश्रम के आधार पर अपने को सन्तोष देना बड़ी भारी असमर्थता है। इसी असमर्थता ने जो अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं और सर्व-समर्थ हैं, उनमें अविचल आस्था नहीं होने दी।

विचार उस पर किया जा सकता है जो बुद्धि की सीमा में हो, सीमित हो, परिवर्तनशील हो और अभावरूप हो। पर जो सदैव है, अनन्त है और असीम है, उस पर विचार नहीं किया जा सकता। वह तो आस्था का विषय है।

आस्था का स्वतन्त्र पथ है। उस पथ पर वे ही साधक चल पाते हैं, जो असमर्थता से पीड़ित हैं। अपनी असमर्थता का अनुभव मानव का सर्वोत्कृष्ट

अनुभव है। मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग करने पर आवश्यक सामर्थ्य बिना माँगे ही मिलती रहती है। सामर्थ्य का सदुपयोग ही विश्वशान्ति का मूलमन्त्र है।

सामर्थ्य का सदुपयोग तभी सम्भव है, जब यह मान लिया जाए कि मिला हुआ अपना नहीं है और अपने लिए नहीं है। सामर्थ्य भी सर्व-समर्थ की देन है। अत: उसके सदुपयोग में अभिमान के लिए कोई स्थान नहीं है।

जो सभी के अपने हैं, वे ही सर्व-समर्थ हैं। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग उसी सर्व-समर्थ के नाते उसकी विश्व-वाटिका की सेवा में करना है। ऐसी सेवा वही कर सकता है, जो वाटिका के फल की आशा ही नहीं करता।

मानव-जीवन में जो करने की बात है वह ज्ञान के अनुरूप ही होना चाहिए। ज्ञान-विरोधी कार्य तो अकर्त्तव्य ही है, जिसका मानव जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य मानव को जन्मजात प्राप्त है। पर मानव अपनी भूल से कर्त्तव्य से विमुख होकर अकर्त्तव्य में प्रवृत्त हो जाता है।

मानव ने मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग कर अपने को अनुपयोगी बना लिया है। साथ ही वह स्वयं पराधीन होकर अनेक प्रकार की बेबसी अनुभव करता है। यद्यपि स्वभाव से ही उसे स्वाधीनता प्रिय है।

मानव जगत् के प्रति उदार, अपने लिए स्वाधीन तथा प्रभु के लिए प्रेमी होने की आवश्यकता अनुभव करता है। पर भूल से आसक्ति में आबद्ध होकर वह उदारता, स्वाधीनता और प्रेम से वंचित हो गया है।

जिन्होंने मानव का निर्माण किया है, वे अपने दुलारे मानव को निरन्तर देखते रहते हैं और प्रतीक्षा करते रहते हैं कि मेरा दुलारा असमर्थता का अनुभव करे और मैं उसे अपना लूँ! असमर्थता का अनुभव होने पर साधक को जो वेदना होती है, वह करुणामय से सही नहीं जाती।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (58)

**मेरे आत्मस्वरूप साधक महानुभाव!**

'पर' के द्वारा 'मैं' का बोध न किसी को हुआ है और न होगा। 'स्व' के द्वारा ही अपना परिचय सम्भव है। 'पर' से विमुख होते ही 'स्व' के द्वारा 'स्व' की खोज होती है। बुद्धि के सम होते ही स्वतः 'स्व' में विचार का उदय होता है। यही विचार 'मैं' की वास्तविकता का परिचय देता है।

बुद्धि के सम होने का उपाय क्या है? सबसे पहले बुद्धि-दृष्टि से इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को मिटाना है। इन्द्रिय-दृष्टि जिस शरीर को सत्य और सुन्दर मानती है, बुद्धि-दृष्टि उसी को मल-मूत्र की थैली और क्षणभंगुर बताती है। इस बुद्धि-दृष्टि के प्रयोग से इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव नाश हो जाता है। फिर इन्द्रिय-दृष्टि मन में विलीन हो जाती है और मन निर्विकल्प हो जाता है। मन के निर्विकल्प होते ही बुद्धि सम हो जाती है।

विवेकपूर्वक शरीर से अपने को अलग स्वीकार करने पर जगत् की आवश्यकता नहीं रहती। यह भी सत्य है कि वस्तु आदि से रहित 'मैं' की जगत् को आवश्यकता नहीं है। यानी 'मैं' की जातीय एकता अनन्त के साथ और मानी हुई एकता जगत् के साथ है।

यदि ममता और कामना का त्याग कर दिया जाए, तो 'मैं' की अन्तिम परिणति अगाधप्रियता में होती है। इस प्रकार 'मैं' सब कुछ और जगत् का बीज रखते हुए 'मैं' कुछ नहीं।

'मैं' स्वभाव से तो सत्-पथ का यात्री है। पर प्रमादवश वह असत् की ओर गतिशील होता है और परिणाम में अभाव ही पाता है। अभाव से पीड़ित मानव अपने जाने हुए असत् से विमुख होता है और फिर उसकी प्रगति सत्-पथ में स्वतः होती है।

सत्-पथ में गमन बेसाथी और बेसामान के होता है। इस राह में श्रम की गंध भी नहीं है। यह कैसी अलौकिक बात है कि इसमें गति है, पर श्रम नहीं। श्रम-रहित होते ही 'मैं' स्वयं उस वास्तविकता से अभिन्न होता है जिसमें अभाव, पराधीनता, जड़ता, नीरसता आदि विकारों की गंध भी नहीं है। इस दृष्टि से 'मैं' की कितनी महिमा है!

बेचारा मानव अपने दर्शन का अनादर कर अपनी महिमा को भूल जाता है। अपनी महिमा को भूलते ही उसमें उत्पन्न हुई उन वस्तुओं की, जिनमें स्थायित्व की गंध भी नहीं है, अपितु सतत् परिवर्तन है, महिमा अंकित हो जाती है, जिसके होते ही राग उत्पन्न होता है।

राग की भूमि में ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। दोषों के उत्पन्न होते ही वास्तविकता का पुजारी घोर आपत्तियों में आबद्ध हो जाता है। पर वास्तविकता से जातीय एकता होने के कारण वास्तविकता की लालसा बीजरूप से विद्यमान रहती है।

ज्यों-ज्यों आपत्ति-जनित पीड़ा सबल होती है, त्यों-त्यों असत् के संग का प्रभाव मिटता जाता है और ज्यों-ज्यों असत् के संग का प्रभाव मिटता जाता है, त्यों-त्यों वास्तविकता की माँग सबल होती जाती है। जब वास्तविकता की माँग वर्तमान की माँग हो जाती है, तब असत् के संग का सर्वांश में नाश हो जाता है और फिर सत् का पथ स्वतः खुल जाता है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

**(59)**

**मेरे आत्मस्वरूप साधक महानुभाव!**

संसार से सुख की आशा के रहते त्याग नहीं होता; ममता के रहते विकार नहीं मिटते और कामनाओं के रहते शान्ति नहीं मिलती। चाह-रहित हुए बिना योग की सिद्धि नहीं मिलती, असंगता के बिना बोध नहीं हो सकता और आत्मीयता के बिना प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह सब बातें ध्रुव-सत्य हैं। या कहो कि प्रभु का ऐसा कुछ विधान ही है। इसलिए संसार से सुख की आशा मत करो। प्राप्त की ममता और अप्राप्त की कामना मत करो। निष्काम-भाव से सभी कर्म करो।

सब प्रकार की स्वीकृतियों से असंग रहो और भगवान् को अपना मानो। फिर तुम जो कुछ भी साधन करोगे, उसमें सफलता अवश्य मिलेगी। परन्तु जो साधन करो वह रुचिकर हो; संदेह-रहित हो और सामर्थ्य के बाहर न हो। कारण, रुचिकर होने से मन और सन्देह-रहित होने से बुद्धि साधन में लग जाती है। और सामर्थ्य के भीतर होने से उकताहट तथा थकावट नहीं होती। इनके अतिरिक्त सफलता न मिलने में और कोई कारण नहीं है।

जानकारी, मान्यता और जो हम करते हैं उसमें सफलता मिलना ही साधन की सिद्धि है और सिद्धि कुछ नहीं। परन्तु आज क्या होता है कि हम संसार की वास्तविकता को जानते हुए भी उसकी आशा का त्याग नहीं कर पाते। हम भगवान् को मानते हैं, उनसे प्रेम करना चाहते हैं, परन्तु नहीं कर

पाते। हम ब्रह्म हैं अथवा आत्मा हैं, ऐसा मानते हैं, परन्तु बोध नहीं होता। हम निर्दोष होना चाहते हैं, परन्तु नहीं हो पाते।

हम भगवान् का चिन्तन-ध्यान करते हैं, परन्तु चित्त में शान्ति नहीं मिलती। हम धर्म को जानते और मानते हैं, परन्तु आचरण में नहीं ला पाते। हमने योग की क्रिया करते हुए जीवन का बड़ा भाग बिता दिया, परन्तु प्रवृत्तियों का निरोध नहीं कर पाए। यह तो है आज के साधकों की दशा! अब बताओ, क्या ऐसी जानकारी, क्रिया और मान्यता से हमारा काम चल सकेगा? कहना होगा, नहीं चलेगा।

जानकारी, मान्यता और क्रियाओं का जब तक जीवन पर प्रभाव नहीं होगा, तब तक तो उन्हें वास्तविक भी नहीं कह सकते। फिर उनसे हमें लक्ष्य की प्राप्ति हो ही कैसे सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। तो बताओ, त्याग और प्यार करना भी किसी से सीखना पड़ता है क्या? जिसको असार और दुःखरूप जान लेंगे उसका त्याग और जिसे अपना तथा सुखरूप मान लेंगे उससे प्यार तो स्वतः होना चाहिए।

हम संसार को असत्य और दुःखद जानकर भी उसका त्याग और भगवान् को अपना तथा सुखधाम मानकर भी उनसे प्रेम नहीं कर पाते। इसका एकमात्र कारण यही है कि हम संसार से सुख की आशा करते रहते हैं एवं उस सर्व-समर्थ प्रभु को सरल हृदय से अपना नहीं मानते।

याद रहे, और कुछ भी अपना है और परमात्मा भी अपना है-यह दोनों बातें एक साथ नहीं होतीं। जब तक हम और कुछ भी अपना मानते हैं, तब तक तो मुख से कहते हुए भी हमने सच्चे हृदय से भगवान् को अपना नहीं माना। यही इसकी पहचान है।

अतएव यदि इसी जन्म में सफलता चाहते हो, तो उपर्युक्त बातें जीवन में उतारो, सफलता अवश्य मिलेगी। यह बात परम सत्य है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (60)

यदि हम संकल्पों और क्रियाओं से कर्तापन का भाव हटा लें अथवा जोड़े ही नहीं, तो फिर उनसे होने वाले फलों को भी हमें नहीं भोगना पड़ेगा। कारण, जो कर्ता है, वही भोक्ता है। यदि हम 'मैं' कर्ता हूँ-इस भाव को मिटा दें, तो 'मैं भोक्ता हूँ'-यह भाव भी अपने आप मिट जाय। और, सब प्रकार

की चाहों का त्याग कर दें तथा स्वाभाविक उठने वाले संकल्पों और क्रियाओं में रस लेना छोड़ दें तो कर्तृत्वभाव भी स्वत: मिट जाय।

कर्ता-भाव और भोक्ता-भाव का मिट जाना ही जीवन्मुक्ति है। अत: भोग-सुखों एवं उनकी कामनाओं का त्याग करो, तुरन्त शान्ति मिलेगी। यह बात परम सत्य है।

सबके हृदय में संकल्प स्वाभाविक ही होते हैं और उन संकल्पों के अनुसार क्रिया भी स्वाभाविक ही होती है। यदि हम उनसे अपनापन नहीं जोड़ें और न ही उनसे किसी प्रकार के सुख की चाह करें, तो वे हमारे बन्धन का कारण नहीं हो सकते। परन्तु हम उनसे अपनापन जोड़ लेते हैं, जिससे राग की उत्पत्ति हो जाती है। और उनसे सुख की चाह कर लेते हैं, जिससे कामनाओं की उत्पत्ति होती है।

राग और कामनाओं के कारण अनेक प्रकार के दोष हमारे जीवन में आ जाते हैं और भोगों में हमारी प्रवृत्ति हो जाती है। जिसके कारण जो नहीं करना चाहिए वह भी हम करने लग जाते हैं और जन्म-मरण के चक्कर में पड़ जाते हैं। मनुष्य-जन्म तो मुक्त होने के लिए ही मिलता है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (61)

**प्रिय साधक महानुभाव!**

सिद्धान्त रूप से कोई भी 'गैर' नहीं है, कोई 'और' नहीं है। किसी-न-किसी नाते सभी अपने हैं और सभी में अपने प्रेमास्पद हैं। इस सत्य को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। जहाँ कहीं जो कुछ बुराई दिखाई देती है, उसका कारण केवल अपनी ही भूल है। अपने सत्य को अपने द्वारा न मानना ही अपनी भूल है।

यदि जीवन में भूल न होती, तो हृदय में स्वभाव से सतत प्रीति की गंगा लहराती और जीवन आनन्द-विभोर हो जाता। वे सभी के अपने हैं, उन्हीं में प्रीति होती है, वे ही प्रीति के अधिकारी हैं। व्यक्तियों के साथ तो सद्भाव ही रह सकता है। व्यक्ति को प्रीति से भिन्न भी कुछ चाहिए, इस कारण वह बेचारा प्रीति का पान नहीं कर पाता। पर यह रहस्य किन्हीं इने-गिने अकिंचन, निरभिमानी, प्रभु-विश्वासी, शरणागत साधकों को ही स्पष्ट होता है।

बुराई-रहित होना सत्संग से साध्य है। भलाई सीखी नहीं जाती, बुराई-रहित होने से भलाई स्वतः अभिव्यक्त होती है। बुराई-रहित होने से ही भी भलाई व्यापक होती है। अपनी भलाई का भास हो जाने पर भी भलाई भलाई नहीं रह जाती, सूक्ष्मरूप से बुराई का जन्म हो जाता है। उसका अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

यह तभी सम्भव होगा जब साधक सजगतापूर्वक आत्म-निरीक्षण करे और अपने को समर्पण कर शान्त हो जाए। शान्ति-सम्पादन से अहं शुद्ध होता है और फिर स्वतः साधक में उसकी बनावट के अनुसार साधना होने लगती है। इस दृष्टि से समर्पणपूर्वक शान्त रहना ही आवश्यक है।

अपने द्वारा अपने को समझा-बुझाकर बुराई-रहित कर लेना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। यदि यह कह दिया जाय कि मानव जीवन का यह अन्तिम पुरुषार्थ है, तो अत्युक्ति न होगी। अपनी बुराई देखने का ज्ञान अपने में है, पर असावधानी के कारण उसका उपयोग हम दूसरों की बुराई देखने में करते हैं, जिसका बहुत बड़ा भाग अपनी कल्पना ही होता है, वास्तविक नहीं। वास्तविक बुराई का ज्ञान तो अपने सम्बन्ध में ही सम्भव है और उसी से साधक सदा के लिए बुराई-रहित होकर सभी के लिए उपयोगी हो जाता है।

जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय, यही मानव की वास्तविक माँग है। इस माँग की पूर्ति अवश्य होती है। अचाह हुए बिना जीवन उपयोगी हो नहीं सकता। अचाह होने की स्वाधीनता अपने को प्राप्त है। अचाह होना ही जीवन में मृत्यु का अनुभव करना है। जीवन में मृत्यु का अनुभव होने पर अविनाशी, स्वाधीन जीवन की प्राप्ति होती है।

अचाह होने के लिए बल का सदुपयोग, ज्ञान का आदर एवं आस्था-श्रद्धा-विश्वास में निर्विकल्पता अनिवार्य है। बल के सदुपयोग में प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग निहित है और ज्ञान के आदर में अवस्थातीत जीवन की प्राप्ति है और विकल्प-रहित विश्वास से आत्मीय सम्बन्ध, अखण्ड स्मृति तथा अगाधप्रियता की प्राप्ति होती है। प्रियता से ही जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

सत्य को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। सत्य को स्वीकार करने पर सफलता अवश्यम्भावी है, इसी सद्‌भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

## (62)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

आजकल मन को कोसने की हम लोगों को आदत पड़ गयी है। देखो! मन कोई भूत नहीं है जो बिना ही कारण हमको तंग करता है। यह तो हमारे में सुख-भोग की जो रुचि है, उसी का नाम मन रख दिया है। जो वस्तु हमको रुचिकर होगी, जिसको हम पसन्द करेंगे, चाहेंगे, मन उसी का चिन्तन करेगा। यानी जहाँ हमारी आवश्यकता होगी, मन वहीं जायेगा। यदि हमारी आवश्यकता में भगवान् होंगे, तो हमारा मन भगवान् की ओर जायेगा। यदि हमारी आवश्यकता किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की होगी, तो मन उन्हीं में भटकेगा। लाख उपाय करने पर भी भगवान् में नहीं लगेगा।

देखो! मन कर्ता नहीं, करण है। गुण-दोष जो होते हैं वे सब कर्ता में होते हैं, करण तो केवल उनको दिखा देता है। जैसे, किसी मनुष्य का मुख कृष्ण-वर्ण है तो वह दर्पण में काला ही दिखायी देगा। अब, यह कोई दर्पण का दोष तो नहीं है। या मान लो, किसी मनुष्य को 104 डिग्री बुखार चढ़ता हो और थर्मामीटर 104 डिग्री बुखार दिखाये, तो क्या यह थर्मामीटर का दोष है? कहना पड़ेगा इन दोनों अवस्थाओं में दर्पण या थर्मामीटर का दोष नहीं है। ठीक इसी भांति मन भी एक दर्पण अथवा थर्मामीटर के समान है। वह तो हमारी असलियत को बताता है।

यदि हम संसारी हैं, हमारा सुख संसार में है, हमें संसार पसन्द है, हमारे मन में संसार बसा है, हम संसार को चाहते हैं, तो हमारा मन भी संसार में ही भटकेगा। तो अब बताओ, यह मन का दोष है या हमारी असलियत का कच्चा चिट्ठा! कहना होगा, इसमें मन का कोई दोष नहीं है।

अतः भाई यदि मन को भगवान् में लगाना चाहते हो, तो भगवान् के होकर रहो। भगवान् के सिवाय और कुछ भी पसन्द मत करो, और कुछ भी मत चाहो। देखो, फिर मन भगवान् में लगता है या नहीं। जो वस्तु सुन्दर होती है, सुखद होती है और अपनी मालूम होती है उसी का मन में चिंतन होता है, यानी उसी में मन लगता है। यह सभी का अनुभव है।

भगवान् तो परम सुन्दर हैं, परम सुखद हैं, अपने परम सुहृद हैं, परम प्यारे हैं। फिर भी मन भगवान् में नहीं लगता, इसका एकमात्र कारण यही है कि हमने भगवान् को पसन्द नहीं किया। यदि हम सब कुछ को नापसन्द करके केवल भगवान् को ही पसन्द कर लें, और कुछ न चाहकर केवल भगवान् को ही चाहने लग जावें, तो फिर हमारा मन स्वतः भगवान् में लग जावेगा, हटाने से भी नहीं हटेगा। यह बात परम सत्य है।

मन रस तथा शान्ति का पुजारी है। वह निरन्तर उसी की खोज में लगा है, जो सभी अवस्थाओं से अतीत है। इस दृष्टि से मन के समान प्राणी का और कोई हित-चिन्तक तथा आज्ञाकारी नहीं है। परन्तु प्राणी असावधानी से अपने दोष को मन का दोष मान बैठता है।

बलपूर्वक दबाया हुआ मन शुद्ध तथा शान्त नहीं होता। मन की शुद्धि के लिये बल का सदुपयोग और विवेक का आदर करना है, बल से मन को दबाना नहीं है। बल के सदुपयोग का अर्थ है, निर्बलों की सेवा।

विवेक का आदर करते ही साधक देह आदि वस्तुओं से असंग हो जाता है। वस्तुओं की असंगता कामनाओं का अन्त कर देती है। कामनाओं के अन्त में ही जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति निहित है। जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति में मन स्वत: शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से विवेक का आदर मन की शुद्धि में समर्थ है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

**(63)**

**साधक महानुभाव!**

'कोई गैर नहीं', यह जीवन का सत्य है। हम सब स्वभाव से सबसे आदर, प्यार और अपनी रक्षा की माँग करते हैं। यदि हमारी सबसे किसी प्रकार की एकता न होती, तो हममें यह माँग भी न होती। यह नियम है कि जिससे हमारी एकता नहीं होती उससे हमारी कोई माँग भी नहीं होती। इस दृष्टि से यह सिद्ध है कि मानव-मात्र में एकता स्वाभाविक है। जब हम इस सत्य को भूल जाते हैं तब हममें भेद तथा भिन्नता की उत्पत्ति हो जाती है, जो राग-द्वेष आदि अनेक विकारों की जननी है और संघर्ष का कारण है। हम अपने प्राप्त बल का सदुपयोग न करके दुरुपयोग करने लगते हैं, अर्थात् कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं। यदि हम चाहते हैं कि कोई हमारे प्रति अपने बल का दुरुपयोग न करे, तो हमको अपने को प्राप्त बल के दुरुपयोग से रहित करना होगा। इसी को कर्त्तव्य कहते हैं। यह तभी सम्भव होगा, जब हम स्वीकार करें कि कोई गैर नहीं है, अपितु सभी अपने हैं।

जीवन में जो भेद और भिन्नता दिखाई देती है, वह एकता की ही पोषक है। प्रत्येक मानव बल, योग्यता और परिस्थिति में समान नहीं है। यह असमानता ही कर्त्तव्य की जननी है। समानता में प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। एक सबल दूसरे सबल के क्या काम आ सकता है? किसी निर्बल के ही काम आ सकता है। एक डाक्टर दूसरे डाक्टर के क्या काम आ सकता है? वह तो किसी रोगी के ही काम आ सकता है। इस दृष्टि से यह असमानता ही हम सबको कर्त्तव्य-निष्ठ होने की प्रेरणा देती है, जो मानवमात्र में एकता प्रदान करने में समर्थ है। और इससे हमें इस सत्य का भी अनुभव होता है कि कोई गैर नहीं है। अर्थात् अनेकता में एकता का दर्शन होता है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (64)

**साधक महानुभाव!**

अपने लक्ष्य की प्राप्ति से निराश हो जाना साधक की सबसे बड़ी भूल है। इस भूल के दो कारण होते हैं-एक तो साधक उसमें जो आंशिक गुण होते हैं, उनका अभिमान कर लेता है; यानी जब उसे यत्किंचित् साधन करते रहने पर भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती तो वह सोचने लगता है कि, 'भगवान् सब किसी को थोड़े ही मिल जाते हैं। वह तो लाखों में किसी बिरले बड़भागी को ही मिलते हैं। चलो, अपने को तो जितना लाभ हो गया वही ठीक है। अनेकों से तो मैं अच्छा ही हूँ।'

इस प्रकार अनेक साधक आशिक गुणों के आधार पर ही संतोष कर बैठ जाते हैं और साधन में शिथिलता ले आते हैं। नहीं तो गुणों के आधार पर साध्य की प्राप्ति से निराश हो जाना कोई समझदारी की बात नहीं है।

आंशिक गुण तो कमोवेश सभी में होते हैं; पूर्ण दोषी तो संसार में कोई भी नहीं हो सकता। बल्कि विचार कर देखने से तो ऐसा मालूम होता है कि सभी मनुष्यों में सभी गुण मौजूद हैं, अलबत्ता दोषों के कारण वह दबे हुए से रहते हैं।

यदि मनुष्य अपने दोषों का परित्याग कर दे, तो गुण कहीं से लाने नही पड़ेंगे, वरन् दोषों के मिटते ही स्वत: चमक उठेंगे। इस दृष्टि से गुणों का अभिमान करना तो वृथा ही है।

साधक जब साधन करते-करते थक जाता है और उसे सफलता नहीं मिलती, तो वह सोच बैठता है कि, 'अरे भाई! मेरे जैसे साधारण प्राणी को भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है! जब बड़े-बड़े योगी हजारों वर्षों तक प्रयत्न करके भी जिसको नहीं पा सके, तो हम कलियुगी जीव भला कैसे पा सकेंगे!' यह भी साधक की एक भूल ही है, नहीं तो अपने साध्य की प्राप्ति तो मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है।

यदि भक्ति चाहते हो, तो अपने जाने हुए असत् का त्याग करो। भक्ति भक्त के लिए तो रसरूप है ही, भगवान के लिए भी रसरूप है। भक्ति स्वतन्त्र इसलिए है कि जगत् का आश्रय उसे नहीं चाहिए। भगवान् से भी उसे कुछ नहीं चाहिए।

भोग की प्राप्ति का निकटतम काल जो होता है वह बड़ा ही सुख कर प्रतीत होता है। परन्तु सुख-भोग से शक्ति का ह्रास होता है, भोग से अरुचि होती है और पराधीनता का जन्म होता है। मानव में रस की माँग है। रस के तीन स्रोत हैं-

(1) निष्कामता से उदित शान्त-रस।

(2) असंगता से उदित अखंड-रस।

(3) आत्मीयता से उदित प्रियता का रस।

आत्मीयता को स्वीकार करने पर प्रभु के लिए प्रियता उत्पन्न होती है। प्रिय की स्मृति अपने आप आती है। इसी का नाम है भजन। भक्ति एक रस है जो प्रियता से उदित होती है। प्रियता आत्मीयता से और आत्मीयता श्रद्धा और विश्वास से होती है।

अतः श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्रभु से आत्मीयता स्वीकार कर लेने पर भक्ति का उदय होना स्वाभाविक है। भक्ति का वैधानिक उपाय है-निर्ममता, निष्कामता और आत्मीयता।

वैसे यह प्रभु की मौज है कि किसी को किसी भी प्रकार से अपनी भक्ति दें। यह तो उनकी बात हुई। साधक की ओर से वैधानिक उपाय है-निर्ममता, निष्कामता तथा आत्मीयता अथवा अपनी असमर्थता के परिचय में सर्व-समर्थ की महिमा में आस्था एवं उन पर निर्भरता।

साधक को अपने साध्य से भिन्न जो भी दिखाई दे, उसे न तो अपना माने, न अपने लिए माने और न ही उसके पाने तथा बने रहने की कामना ही करे। कारण, अपना मानने से उसमें ममता हो जाएगी, जोकि सभी दोषों की जननी है।

अपने लिए मानने से भोग-वासनाओं का उदय होगा यानी उससे सुख-प्राप्ति की आशा जगेगी, और उनकी कामना करने से चित्त में उनका चिन्तन होगा तथा उनको पाने के लिए सकाम कर्मों में प्रवृत्ति होगी। यदि सही करने से उनकी प्राप्ति नहीं होगी, तो अज्ञानवश हम लोग गलत भी करने लग जाएँगे। गलत करने में प्रधान हेतु कामना होती है।

प्रारब्धवश जो भी अपने को मिला हो, उसका अपने साध्य के नाते-वस्तु मिली हों तो उनका सदुपयोग करें और व्यक्ति मिले हों तो उनकी सेवा करें। बदले में उनसे किसी प्रकार के भी सुख की आशा न करें और न ही उनका चिन्तन करे। यदि अपने आप उनका चिन्तन होता हो, तो उस चिन्तन का समर्थन तथा विरोध न करें वरन् उससे असहायोग करें; यानी उस होने वाले चिन्तन से सम्बन्ध-विच्छेद कर लें।

जब वस्तु-व्यक्ति से सम्बन्ध ही नहीं रहेगा, तो कुछ काल में चिन्तन अपने आप बन्द हो जाएगा। चिन्तन का कारण उनसे सम्बन्ध बनाए रखना ही है।

साधक को चाहिए कि वह अपने साध्य को अपना माने, उसमें आस्था और आत्मीयता करे तथा उसकी महिमा में विश्वास करे, जिससे उसकी प्रीति जाग्रत होगी। फिर प्रेमास्पद का चिन्तन करना नहीं पड़ेगा, स्वत: होगा, बल्कि छोड़ने से भी नहीं छूटेगा।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (65)

**साधक महानुभाव!**

साधक के जीवन में इन दो बातों का होना आवश्यक है। यदि वह सेवा करे तो जिसकी भी करे उसको अपने व्यक्ति से ज्यादा महत्त्व दे और प्रत्युत्तर में उससे मान, भोग तथा आशीर्वाद आदि कुछ भी न चाहे। भगवान् की आज्ञा तथा अपना कर्त्तव्य समझकर सेवा करे।

यदि वह प्रेमपथ का साधक है तो भगवान् को अपना साध्य माने, साधन न बनाए। भगवद्-भजन के बदले कुछ माँगना तथा भगवान् के सिवाय और कुछ चाहना-यह भगवान् को साधन बनाना है। यदि भजन करके भगवान् से हम धन, सन्तान आदि कुछ माँगते हैं, तो हमारा साध्य तो वह इच्छित

पदार्थ ही हुआ, भगवान् तो उसकी प्राप्ति के साधन हुए। यही तो भगवान् को साधन बनाना है।

जो भक्त भगवान् को छोड़कर कुछ भी चाहता है या भगवान् से कुछ भी माँगता है, उसका साधन हुए-भगवान्। इस प्रकार भगवान् को मानने वाले तथा भजने वाले के लिए यह बात बहुत हानिप्रद है।

भगवान् तो सबको सदैव प्राप्त ही हैं। भला, जब वे अनन्त, सर्वव्यापी और सर्वाधार हैं, तो किसी को भी अप्राप्त कैसे हो सकते हैं! आवश्यकता है उनके योग, बोध और प्रेम की, जिनके बिना सदैव प्राप्त प्रभु भी अप्राप्त से भासते हैं।

हमने अपने में जो चाह पैदा कर ली है, यही हमारे और प्रभु के बीच में मोटा परदा कहो, चाहे गहरी खाई कहो, बन गई है। इस चाह के कारण ही हम उन सर्व-शक्तिमान के योग-बोध-प्रेम से वंचित हैं। इसलिए साधक को चाह-रहित होना अनिवार्य है।

जो मनुष्य गलती नहीं करता, वही सबसे बड़ा त्यागी है और जो ठीक करता है वही सबसे बड़ा सेवक है। जो हर हाल में प्रसन्न रहता है वही सबसे बड़ा तपस्वी है।

की हुई भूल पर पश्चात्ताप करने के समान कोई प्रायश्चित्त नहीं। भविष्य में भूल न करने के निश्चय के समान कोई दूसरा व्रत नहीं।

भगवान् को अपना मानने के बराबर प्रेम-प्रप्ति का अन्य साधन नहीं है। यह बातें जिसके जीवन में आ गईं, उसका कल्याण निश्चित है। यह बात परम सत्य है।

भुक्ति और मुक्ति का त्याग करने पर ही प्रेम की प्राप्ति होती है। प्रेम अनन्त और अगाध रस से पूर्ण है और अनिर्वचनीय है।

ममता और कामना का त्याग करने पर मन का स्वत; निरोध होने से योग सिद्ध हो जाता है। इसका फल है, शान्ति की अभिव्यक्ति। इसी भाँति सभी प्रकार के दोष और कामनाओं का त्याग करने पर चित्त शुद्ध होकर असंग और मोह-रहित हो जाता है, जिसके होने से बोध का उदय होता है। इसका फल है, स्वाधीनता की अभिव्यक्ति।

जो मनुष्य शान्ति में भी रमण नहीं करता और स्वाधीनता में भी सन्तुष्ट नहीं होता, उसी को प्रेम की प्राप्ति होती है। इसलिए सही मायनों में तो जीवन्मुक्त होने के बाद मनुष्य प्रेम-प्राप्ति का अधिकारी होता है।

जिसके हृदय में भोग-सुखों का लालच और काम-क्रोधादि विकार मौजूद हैं वह प्रेम की प्राप्ति तो क्या, प्रेम की चर्चा करने तथा सुनने का भी अधिकारी नहीं है। वास्तव में तो जिसके हृदय में ममता, आसक्ति, कामना और स्वार्थ की गन्ध भी न हो, वही प्रेमी हो सकता है।

इन दोषों का सर्वथा अभाव होने पर ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। इन दोषों के रहते हुए अपने को प्रेमी मानना, अपने को और दूसरों को धोखा देना है। इसलिए यदि सच्चा प्रेमी होना है, तो सभी दोषों का त्याग करो, प्रेम अवश्य मिलेगा।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

**(66)**

**प्रिय साधक महानुभाव!**

यह सभी को विदित है कि सर्वांश में तो कभी किसी के जीवन में अकर्त्तव्य तथा असाधन नहीं होता। किसी-न-किसी अंश में कर्त्तव्यपरायणता आदि साधन सभी के जीवन में रहते ही हैं। आंशिक साधन के आधार पर अपने को सन्तुष्ट करना बड़ा ही भयंकर असाधन है। इससे सजग साधक को बड़ी ही सावधानीपूर्वक अपने को बचाना चाहिये।

यह तभी सम्भव होगा, जब साधक को आंशिक असाधन भी असह्य हो जाय। आंशिक साधन को साधना नहीं मानना चाहिए। साधना एक अलौकिक तत्त्व है। मानव ने उसकी खोज की है। साधना मानव की उपज नहीं है, अपितु ईश्वरीय शक्ति है। ईश्वरीय शक्ति अनन्त और अविनाशी है। उसका कभी नाश नहीं होता।

यदि यह कह दिया जाए कि साध्य के समान ही साधना भी अनुत्पन्न हुआ तत्त्व है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। साधना में ही साधक का अस्तित्व विलीन हो जाता है। साधना सदैव साध्य से अभिन्न है। असाधन प्राकृतिक नहीं है। मानव अपनी ही भूल से असत् के संग को अपनाकर असाधन को जन्म देता है।

जिसे मानव ने अपनी भूल से उत्पन्न किया है, उसका नाश भूल-रहित होने पर ही होगा। इस दृष्टि से भूल-रहित होने में ही मानव का पुरुषार्थ है। भूल-रहित होने के लिए अपनी भूल का अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है।

अपनी भूल का अनुभव तभी होगा, जब आंशिक साधना को अपनी साधना स्वीकार न किया जाय, अपितु आंशिक असाधन को भूल मान लिया जाए। भूल कितनी ही पुरानी क्यों न हो, यदि उसे नापसन्द कर दिया जाय, तो तुरन्त मिट जाती है। भूल मिटाने में अधिक समय नहीं लगता। भूल को भूल अनुभव करने में भले ही समय लग जाय।

जिस साधक को पर-दोष दर्शन में सुख मिलता है, वह बेचारा अपने ही द्वारा अपनी भूल को पुष्ट करता है और फिर अपने दुःख का कारण दूसरों को मानता रहता है। उसका परिणाम यह होता है कि नित नये दुःख में आबद्ध होता रहता है। यद्यपि सुख-दुःख प्राकृतिक तथ्य हैं, पर साधन-सामग्री हैं।

सत्य को स्वीकार करने पर सुख-दुःख साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाते। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय से आए हुए सुख-दुःख दोनों ही से साधक साधननिष्ठ हो सकता है। साधननिष्ठ होने में तो एकमात्र असत् का संग बाधक है।

सत्य को स्वीकार करने पर सभी बाधाएँ स्वतः नाश हो जाती हैं-यह साधननिष्ठ साधकों का अनुभव है। यह भली-भाँति स्पष्ट है कि सत्य को स्वीकार किए बिना काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। इस कारण शीघ्रातिशीघ्र बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सहन करते हुए भी सत् को स्वीकार करने के लिए सतत् प्रयत्नशील होना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को 'सत्' को स्वीकार करने की प्रेरणा प्रदान करें, जिससे मानव 'उनका' होकर सदा के लिए सब प्रकार से पूर्ण हो जाए। इसी सद्‌भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

## (67)

**साधक महानुभाव!**

देखो, मनुष्य को जब वैराग्य होता है, तब सत्य की खोज के अलावा मेरा और भी कोई कर्त्तव्य है-यह बात उसे नहीं सूझती। वह तो सब कुछ का त्याग करके तत्परता के साथ सत्य की खोज में लग जाता है।

वृद्ध माता-पिता, नव-विवाहित पत्नी तथा छोटे-छोटे बच्चे घर में बिलखते ही रह जाते हैं। वह इन सबकी कुछ भी परवाह नहीं करता। वह अपने शारीरिक सुख को, ऐश-आराम, को, बढ़िया-बढ़िया भोगों को तृण के समान त्याग देता है तथा गली के रोड़े की भाँति ठुकरा देता है।

उसको तो हर समय सामने मौत खड़ी दिखाई देती है। वह समझता है कि यदि सत्य की प्राप्ति किये बिना ही मृत्यु हो गई, तो इस हानि की पूर्ति किसी तरह से भी न हो सकेगी। ऐसा समझकर वह सब कुछ का परित्याग कर सत्य की खोज में लग जाता है और जब तक सत्य की प्राप्ति नहीं होती, तब तक किसी भी हाल में चैन से नहीं रहता। ऐसे वैरागी मनुष्य को माता-पिता तथा स्त्री-बच्चों को छोड़ देने का कोई पाप नहीं लगता। यदि लगता भी है तो वह उस पाप के फलस्वरूप नरक का भी भय नहीं करता।

वास्तव में तो जब तक संसार से हमारा सम्बन्ध रहता है और उससे हम कुछ लेना चाहते हैं, तभी तक उसकी सेवा का हमारा कर्त्तव्य रहता है।

जब मनुष्य संसार से अपना बिल्कुल सम्बध-विच्छेद कर लेता है, उसकी ओर से मिलने वाले सुखों को ठुकरा देता है तथा सब कुछ का परित्याग करके सत्य की खोज के लिए निकल पड़ता है, तब संसार के प्रति उसका कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता।

देखो! जिसको वैराग्य हो गया अथवा आत्मरति की प्राप्ति हो गई, उसके लिए कोई कार्य शेष नहीं रहता। धर्म का पालन तो वैराग्य होने तक ही करना पड़ता है। कारण, धर्म के पालन से वैराग्य जगता है।

वैराग्य होने पर तो सब प्रकार के धर्म और कर्त्तव्य की समाप्ति हो जाती है। ऐसे ही आत्मरति और प्रेम की प्राप्ति होने पर भी कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता।

अब प्रश्न यह रहा कि वैराग्य की प्राप्ति कैसे हो? तो कहना होगा कि जब तक जीवन में राग है, तब तक वैराग्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

राग कैसे मिटे? इसके लिए सन्तों ने अनेक उपाय बताए हैं—किसी ने कहा, वैरागी पुरुषों का संग करने से, तो किसी ने कह दिया वैराग्य-सम्बन्धी पुस्तकों के पढ़ने से और वैराग्य की बातें सुनने से वैराग्य होता है।

किसी ने कहा, एकान्त में बैठकर जगत् की नश्वरता पर विचार करने से, तो किसी ने कह दिया कि प्रभु का भजन-ध्यान करने से वैराग्य होता है।

और भी अनेक प्रकार के साधन सद्ग्रन्थों में मिलते हैं, और वे सभी साधन किसी-न-किसी अंश में सत्य भी हैं। परन्तु वैराग्य की प्राप्ति का अचूक साधन तो अपने विवेक का आदर करना है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

**(68)**

**साधक महानुभाव!**

श्रद्धा की प्रगाढ़ता का नाम ही निष्ठा है। जिस बात में मनुष्य की निष्ठा होती है वह उसका त्याग किसी हालत में भी नहीं कर सकता। जैसे, किसी की सत्य में निष्ठा है तो वह किसी भी भय अथवा प्रलोभन के कारण सत्य का त्याग नहीं कर सकता। उसको यदि स्वप्न में भी कोई सत्य के त्याग की बात कहे, तो उसे वह स्वीकार नहीं करेगा।

उसके जीवन में चाहे जितनी कठिनाइयाँ आएँ, परन्तु सत्य के त्याग की बात उसके मन में कभी नहीं आती। न ही उसके मन में कभी यह भाव आता है कि सत्य के लिए मैं इतने कष्ट उठा रहा हूँ। सत्य को त्यागकर वह जीना भी नहीं चाहता।

जैसे, राजा हरिश्चन्द्र पर कितनी विपत्तियाँ आईं, परन्तु न तो वह घबराए और न सत्य को त्यागने की बात ही कभी उनके मन में आई। सहर्ष सब कठिनाइयों को सहन करते हुए सत्य के पालन में तत्पर रहे। यह है सत्य में निष्ठा की पहचान!

अब रही निष्ठा की प्राप्ति की बात। तो सत्यनिष्ठ होने के लिए प्रथम सत्य-प्रतिज्ञा होना पड़ेगा। सत्य की प्रतिज्ञा किए बिना कोई भी मनुष्य सत्यनिष्ठ नहीं हो सकता। इसलिए पहले हमें सत्य की प्रतिज्ञा, यानी सत्य का व्रत लेना होगा। फिर सत्य में पूर्ण-विश्वास तथा प्रगाढ़-श्रद्धा होने पर सत्य-निष्ठा की प्राप्ति होगी।

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

## (69)

**सत्संग-प्रेमी साधक महानुभाव!**

प्रभु-विश्वासी शरणागत साधकों से सुना है कि सर्व-समर्थ परमात्मा अद्वितीय, सदैव, सभी के हैं; अतः अपने भी हैं। इस वास्तविकता को अपना लेने पर साधक सनाथ हो जाता है। किन्तु मूल प्रश्न यह है कि प्रभु को अपना मानना किस समस्या का निदान है? इससे पूर्व प्रत्येक साधक को यह भी भली-भाँति अनुभव करना चाहिए कि मेरी अपनी समस्या क्या है? समस्या उसे नहीं कहते, जिसे अपने द्वारा हल कर सकते हों, अथवा जो स्वतः हल हो जाय; और समस्या उसे भी नहीं कहते जिससे निराश हो जाएँ।

भूतकाल की भूलों से हृदय पीड़ित है, उसके परिणाम से बचने के लिए अपने में कोई बल नहीं है और वर्तमान में नीरसता, अभाव तथा पराधीनता भाती नहीं है। यदि यह समस्या अपनी समस्या है, तो उसका उपाय एकमात्र प्रभु-विश्वासी साधक को यही मालूम होता है कि वह प्रभु की महिमा को अपनाकर प्रभु का हो जाय और यह स्वीकार करे कि मैं और किसी का नहीं हूँ, कोई और मेरा नहीं है। मैं स्वयं अपनी समस्या हल नहीं कर सका और उसके हल हुए बिना मुझे चैन नहीं है।

अतएव प्यारे प्रभु ही मेरे अपने हैं और मैंने इसी महामन्त्र को अपनाया है। इससे भिन्न और कोई मेरे लिए उपाय नहीं है। सर्व-समर्थ एवं पतित-पावन ने ही असमर्थ तथा पतितों को अपनाया है। सद्‌गुरुवाक्य कभी मिथ्या नहीं होता, यह शरणागत साधकों का अनुभव है।

इस दृष्टि से शरणागति ही एकमात्र मूल उपाय है। शरणागत को योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है। कारण कि, उसमे अन्य विश्वास तथा अन्य सम्बन्ध की गन्ध भी नहीं रहती।

सत्संग में सर्वतोमुखी विकास निहित है और सत्संग की मानवमात्र को सुविधा तथा स्वाधीनता है। कारण कि, अपने द्वारा जो करना है, उसके करने में पराधीनता नहीं है। यह स्वाधीनता मानवमात्र को मंगलमय विधान से मिली है।

मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग न करना मानव की अपनी भूल है। अपनी भूल को मिटाने का दायित्व मानव के रचयिता ने मानव पर ही रखा है।

दायित्व पूरा करने में स्वाधीनता है। कारण कि, दायित्व पूरा करने के लिए आवश्यक सामर्थ्य, योग्यता आदि सब कुछ स्वत: प्राप्त होता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने अपनी वास्तविक माँग का अनुभव किया है। माँग और दायित्व का पुञ्ज ही मानव का अस्तित्व है। माँग की पूर्ति होती है। दायित्व पूरा करना है।

माँग की जागृति में दायित्व पूरा करने की सामर्थ्य स्वत: आती है। ममता, कामना तथा तादात्म्य के कारण माँग की विस्मृति हो जाती है, माँग का नाश नहीं होता। उस विस्मृति को मिटाने के लिए ही अभाव-जनित वेदना उत्पन्न होती है। परन्तु प्रमादवश मानव अभाव-जनित वेदना को कामना-पूर्ति के सुख से मिटाने का मिथ्या प्रयास करने लगता है; जबकि प्रत्येक-पूर्ति का सुख नवीन कामना को जन्म देता है।

अपनी कामना से ही मानव आप पराधीन हो गया है। निष्कामता को अपनाये बिना असंगता की अभिव्यक्ति नहीं होती। असंगता के बिना तादात्म्य नाश नहीं होता, जिसके बिना हुए सत् का संग सम्भव नहीं है। सत्संग के बिना असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है।

उत्पन्न हुए असाधन के नाश का प्रश्न मानव-जीवन का मौलिक प्रश्न है, जिसका हल एकमात्र सत्संग से ही है। उत्पन्न हुआ असाधन स्वत: दिखाई देता है। उसे देख उसके कारण की खोज कर उसका सदा के लिए अन्त करना अनिवार्य है।

असाधन के रहते हुए चैन से रहना ही असाधन को पोषित करना है। असाधन-जनित वेदना साधन की उत्कट लालसा को पोषित करती है, जो विकास का मूल है। मानव की माँग साधन-निष्ठ होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न होना है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

**साधक महानुभाव!**

सामर्थ्य की माँग, जीवन की माँग और पवित्रता की माँग-ये हुईं अपनी माँग। और जिससे मिलेंगी उसके प्रेम की माँग-यह हुई सार्वभौमिक माँग।

साधक की पहली माँग होगी-हमें जीवन मिले, हमें सामर्थ्य मिले और हम शुद्ध-पवित्र हो जायें। अन्तिम माँग होगी कि जिसने हमारी माँग पूरी की है उससे हमारा प्रेम हो जाय।

आप कहेंगे, यह अन्तिम माँग क्यों होगी? तो भाई, आपको वह जीवन प्राप्त हो जाय, सामर्थ्य प्राप्त हो जाय और पवित्रता भी प्राप्त हो जाय-उससे जो रस मिलेगा वह अखण्ड तो होगा, परन्तु अनन्त नहीं होगा। जिसने हमारी माँग पूरी की, उसमें हमारा प्रेम हो जाय-यह साध्यरूप माँग है, साधनरूप माँग नहीं है।

आपको जीवन मिल गया, सामर्थ्य भी मिल गई और पवित्रता भी मिल गई। उससे आपको अखण्डरस, नित्यरस, शान्तरस अर्थात् ऐसा रस जो कभी खंडित न हो सके, जिसका कभी नाश न हो, वह प्राप्त होगा।

अशान्ति की गन्ध किसमें नहीं होती? जो होने में तो प्रसन्न रहता है, किन्तु करने में सावधान रहता है। जहाँ करने में सावधानी नहीं, वहाँ मानसिक अशान्ति आती है। लेकिन जब 'होना' 'है' में परिवर्तित हो जाता है, तो फिर करने का प्रश्न समाप्त हो जाता है। तब आप कहते हैं कि भाई! करने की बात रही नहीं, अब जो होता है वह ठीक है-यह शान्तरस है।

इस प्रकार साधक की जो पहली माँग है-वह शान्ति की है। और जो अन्तिम माँग है वह अनन्तरस की अभिव्यक्ति की है।

जब हम अपनी निर्बलताओं से परिचित हुए, तब किसी की महिमा में आस्था की अथवा हो गई। हम बिना माने आस्था कर लें या मानकर आस्था कर लें, बिना जाने आस्था कर लें अथवा जानकर आस्था कर लें-आस्था हो जाती है।

आस्था बिना जाने भी होती है और बिना माने भी होती है। जितने भी विचारक हैं, वे बिना माने सत्य में आस्था करते हैं। वे संदेह से चलते हैं। जानते नहीं हैं, पर आस्था है।

जितने विश्वासी हैं वे मानते भी हैं और आस्था भी करते हैं और जितने तत्त्वज्ञ हैं, वे जानते भी हैं और आस्था भी करते हैं।

ॐ आनन्द!

अकिंचन-
शरणानन्द

## (71)

**प्रीतिस्वरूप साधननिष्ठ!**

हमें देखना चाहिए कि हमारा सम्बन्ध हमारी ओर से किसके साथ है? परमात्मा के साथ है या जगत् के साथ है? अच्छाई के साथ है या बुराई के साथ है? हमको क्या पसंद आता है? अगर हमको परमात्मा का सम्बन्ध अच्छा लगता है, तो संसार का सम्बन्ध अपने आप ही टूट जायेगा। अगर संसार का सम्बन्ध हमने तोड़ दिया है, तो परमात्मा से सम्बन्ध अपने आप हो जायेगा। तो आपके और परमात्मा के बीच संसार पर्दा नहीं है, उससे सम्बन्ध पर्दा है।

माँग तीन प्रकार से हो सकती है, कामना को लेकर, लालसा को लेकर और जिज्ञासा को लेकर। भोग की कामना, सत्य की जिज्ञासा, और ब्रह्म की लालसा। 'जिज्ञासा' कहते हैं-जानने की इच्छा और कामना कहते हैं-भोग की इच्छा। तो यह भोग की कामना, सत्य की जिज्ञासा और परमात्मा की लालसा-ये तीनों लक्षण जिसमें रहते हैं उसे 'मैं' कहते हैं।

इन तीनों में जो कामना है, वह तो भूल से उत्पन्न होती है और जिज्ञासा एवं लालसा स्वभाव से हैं। जो भूल से उत्पन्न होती है उसकी निवृत्ति हो जाती है एवं लालसा की प्राप्ति हो जाती है। इसलिए कामना की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और परमात्मा की प्राप्ति मनुष्य को हो सकती है।

प्रेम करने का कोई तरीका नहीं है, पर प्रेम करना सबको आता है। जीवन में एक अनुभव की बात यह है कि हम जिसको अपना मान लेते हैं वह प्यारा लगता है और हम उसे अपना सब कुछ देने को तैयार हो जाते हैं। परमात्मा अपना है, उसे अपना बना लें, तो वह प्यारा लगता है।

जब परमात्मा प्यारा लगता है, तो उस पर सर्वस्व अर्पण कर देते हैं। ईश्वर को हम अपना दिल दे बैठें, तो फिर हमारे पास अपना क्या रह जायेगा? मनुष्य के पास जब उसका दिल न रहे, तो वह भक्त हो जाये, मुक्त हो जाए और शांति पा जाए।

आप सुनना और सीखना बंद करें, और जानना और मानना प्रारम्भ करें, तो काम बन जाएगा। जानने के स्थान पर 'मेरा कुछ नहीं है'। इसके सिवाय और कुछ नहीं जानना है। और मानने के स्थान पर सिवाय परमात्मा के और कोई मानने में आता नहीं है।

जब तक तुम बुरे नहीं होते, बुराई नहीं पैदा होती। मन में कोई विकृति नहीं है। अपने में कोई खराबी हो, तो ठीक करो, मन ठीक हो जायेगा। तुम

किसी को बुरा मत समझो, मन में बुरी बात कभी नहीं आयेगी। तुम किसी का बुरा मत चाहो, मन में बुरी बात कभी नहीं आयेगी। तुम किसी के साथ बुराई मत करो, मन में बुरी बात कभी नहीं आएगी। हमारी भूल हमें मन में दिखती है। भूल हम करते हैं और नाम मन का रख देते हैं। बुराई करने वाला खुद दुःखी रहता है।

अपने को बुरा मानोगे, तो बुराई करोगे। अपने को भला मानोगे, तो भलाई करोगे। और भला-बुरा कुछ नहीं मानोगे, तो परमात्मा में रहोगे।

अच्छाई और बुराई जब दोनों होती हैं, तब तो बनता है अहम्। परिच्छिन्नता बनती है। और जब बुराई बिल्कुल नहीं रही, अच्छा ही अच्छा रह जाता है, तो अहम् का नाश हो जाता है। द्वन्द्व में अहम् बनता है, द्वन्द्वातीत में अहम् नहीं बनता। मनुष्य सर्वांश में बुरा नहीं हो सकता, पर सर्वांश में भला हो सकता है।

गुरुवाणी से जो सुना, उसे मान लिया। यह निदिध्यासन हो गया।

जिसके करने की सामर्थ्य प्राप्त हो, जिसमें किसी का अहित न हो, जिसके बिना करे रह न सकते हों और जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो-ऐसा काम ही जरूरी काम होता है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (72)

**साधक महानुभाव!**

कर्त्तव्य-परायणता अर्थात् प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का यह शुभ परिणाम होना चाहिए कि साधक अपने में सन्तुष्ट हो जाय। यह वैधानिक तथ्य है कि अपने में जीवन तथा जीवनधन है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था चाहिए। 'जीवन' जड़ता, अभाव, पराधीनता, नीरसता आदि दोषों से रहित है। उसी को जीवन कहते हैं।

जीवन में चेतना, स्वाधीनता है और सरसता है, जिसकी माँग साधक को स्वभाव से ही रहती है। जीवन की माँग से ही काम का नाश होता है और कामरहित होते ही देहाभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही सभी समस्यायें स्वतः हल हो जाती हैं। यह अनुभवसिद्ध सत्य है।

साधकों को वास्तव में अपने लिए किसी भी काल में शरीर की आवश्यकता नहीं है। शरीर के सदुपयोग से परिवार, समाज एवं संसार के अधिकारों की रक्षा हो सकती है। इससे भिन्न शरीरों का कोई उपयोग नहीं है।

शरीर का सदुपयोग साधक को विद्यमान राग से रहित कर देता है और विवेकपूर्वक असंग होने से फिर नवीन राग ही उत्पन्न नहीं होता। रागरहित भूमि में ही योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो साधक की वास्तविक माँग है, जिसकी पूर्ति होने पर साधक साध्य से अभिन्न हो जाता है।

शरीर का सदुपयोग और उससे असंगता अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब साधक श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अपने ही में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करे। जिसकी वास्तविक माँग है, उसके अस्तित्व को स्वीकार करना सहज तथा स्वाभाविक होना चाहिए। माँग उसी की होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। वही सभी साधकों का साध्य है।

साधक को विचार करना चाहिए कि क्या मैंने अपनी प्राप्त शक्ति का सदुपयोग कर लिया है या कमी रखी है? विचार करने पर मालूम होगा कि कमी रखी है। मैंने अपने को पूरा नहीं लगाया है।

हरेक मनुष्य अपने मन में भरी हुई बातों को पूरे-पूरे ढंग से बाहर नहीं निकालता। किन्तु ऊपर से कुछ-न-कुछ भरता रहता है। अत: साधक को चाहिए कि अपने मन को टटोले कि उसमें क्या-क्या भरा है। उसे भली-भाँति देखे और सोचे कि मुझमें कौन-सी असमर्थता है, जिसने मुझे अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचने दिया।

अवश्य ही मुझे किसी ऐसे सुख में रस आता है, जिसने मुझे फँसा रखा है। इस प्रकार सोचकर उस रुकावट को विवेक-बल से अथवा विश्वास-बल से दूर करे। तभी वह साधन में अग्रसर हो सकता है।

आश्चर्य तो इस बात का है कि साधक को जो कुछ करना चाहिए, उसे करता भी नहीं और न करने के दु:ख से दु:खी भी नहीं होता। वह जितना समय और मन अनावश्यक कामों में लगाता है, उतना अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए नहीं लगाता।

यदि साधक अपने मन की वास्तविकता को विवेक के प्रकाश में खोलकर रखे, तो उसे मालूम होगा कि मन में बहुत-से ऐसे संकल्प भरे हैं; जिनको मैं न तो पूरा करता हूँ और न मिटाता ही हूँ। यही कारण है कि मन संकल्पों के जाल में फँसा रहता है और शुद्ध नहीं हो पाता। चित्त शुद्ध न होने के कारण ही मुझे अपने लक्ष्य की प्राप्ति में विलम्ब हो रहा है।

मनुष्य अपने मन के असली फोटो को तो छिपाता चला जाता है और जो जानता है उसके विपरीत आचरण करता है। साधारण मनुष्यों में और सन्त

में यही अन्तर होता है कि सन्त जो जैसा जानता है वैसा मानता है और जैसा मानता है वैसा ही करता है। परन्तु साधारण व्यक्ति ऐसा नहीं करता। अतः साधक को सन्तों का अनुकरण करना चाहिए।

मनुष्य की स्थिति सदैव एक-सी नहीं रहती, बदलती रहती है। अतः साधक को सोचना चाहिए कि जब मैं वर्तमान स्थिति से अलग हो जाऊँगा, तब कहाँ और कैसे रहूँगा? इसका विवेकपूर्वक अध्ययन करने से साधक प्राप्त स्थिति से ऊपर उठने के लिए अग्रसर हो सकता है।

संसार की रुचि हमेशा बदलती रहती है। एक रुचि की पूर्ति होते ही दूसरी पैदा हो जाती है। इस प्रकार रुचि की उत्पत्ति और पूर्ति के जाल में प्राणी फँसा रहता है।

रुचि की पूर्ति के रस से मोहित रहने के कारण उसे करने का दुःख नहीं होता और जो सबसे अच्छी चीज है उसे न पाने का भी दुःख नहीं होता। इसीलिए साधक अपने लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ पाता। यदि उसके जीवन में वास्तविक दुःख का उदय हो गया, तो उसे बहुत शीघ्र लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

(73)

**मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!**

साधक को कर्त्तव्य-पालन के लिए सामग्री मिली है। साधक का अपने प्रति, जगत् के प्रति तथा प्रभु के प्रति क्या कर्त्तव्य है? अपने प्रति हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने को बुरा न बनाएँ, जगत् के प्रति कर्त्तव्य है कि हम जगत् को बुरा न समझें और प्रभु के प्रति कर्त्तव्य है कि हम उनको अपना मानें।

हम तीनों में से एक भी नहीं करते, फिर चाहते हैं साधक होना। तो यह नहीं हो सकता। प्रभु की चीज को अपना मानते हैं, इस बेईमानी से चित्त शुद्ध नहीं होगा।

इसलिए किसी भी वस्तु को अपना न मानें। त्याग द्वारा जीवन अपने लिए; सेवा द्वारा जीवन जगत् के लिए; प्रेम द्वारा जीवन भगवान् के लिए उपयोगी हो जाता है। त्याग, सेवा, प्रेम के अपनाते ही चित्त शुद्ध हो जाएगा।

कर्त्तव्य से भिन्न मानव-जीवन का कोई अर्थ नहीं है। साधन से भिन्न साधक का जीवन नहीं है। त्याग के द्वारा हम चित्त शुद्ध कर सकते हैं।

त्याग नहीं करेंगे, तो राग रहेगा। उसके परिणामस्वरूप अभाव, पराधीनता, जड़ता, सुख और दु:ख-ये पाँच फल भोगने पड़ेंगे और जीवन अपने लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होगा।

आप स्वीकार करिए कि, 'प्रभु मेरे हैं', इससे जीवन प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध हो जाएगा। सेवा का व्रत ले लीजिये, तो जीवन जगत् के लिए उपयोगी हो जाएगा। अकिंचन और अचाह होने से जीवन अपने लिए उपयोगी हो जाएगा।

यदि आप इन तीनों में-से किसी को भी स्वीकार नहीं करते, तो अनन्त जन्मों तक आपसे कोई साधन नहीं करा सकता। इसलिए सत्संग के द्वारा जीवन की समस्या का हल वर्तमान में ही हो सकता है।

त्याग, सेवा, प्रेम अपनाइए, साधनपरायणता आएगी। निज-ज्ञान के आदर से जीवन में त्याग आता है। प्रभु में विश्वास करने से उनमें आत्मीयता हो जाती है। उनको अपना मानने से उनकी प्रियता उदित होती है।

किसी को बुरा न मानने से जगत् के प्रति सद्भाव और सेवा होती है। सेवा का अर्थ है- किसी को बुरा मत समझो, किसी का बुरा मत चाहो, किसी की बुराई मत करो एवं किसी से सुख की आशा मत करो।

प्रेम का अर्थ है कि प्रभु को अपना मानो, उनमें आत्मीयता रखो। प्रभु चाहे जहाँ हो, जैसे हों, चाहे जो करें, मिलें, न मिलें, पर उनको अपना मानो।

त्याग का अर्थ है कि किसी वस्तु को अपना मत मानो। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से सम्बन्ध मत रखो। कर्म, चिन्तन एवं स्थिति किसी भी अवस्था में जीवन-बुद्धि मत रखो।

किसी का आश्रय मत लो। किसी से सुख की आशा मत करो। फिर जीवन जगत् के लिए, अपने लिए और प्रभु के लिए उपयोगी हो जाएगा, साधन में सिद्धि हो जाएगी। इसी सद्भावना के साथ, सभी को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

## (74)

**प्रिय साधको!**

मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का पालन तो अवश्य करना चाहिए किन्तु उसमें रस नहीं लेना चाहिए। कारण, उसमें रस लेने से करने का अन्त नहीं होता और करने का अन्त हुए बिना विश्राम नहीं मिलेगा।

देखो, करना तो करने का अन्त करने के लिए ही किया जाता है। सदा करते ही रहना-यह तो कोई सिद्धान्त नहीं है और न यह किसी को भाता है।

करने में रस लेने से करने के राग की निवृत्ति नहीं होती और चाह-युक्त करने से नए राग की उत्पत्ति होती रहती है। राग के रहते किसी का भी कल्याण नहीं हो सकता-यह पक्का सिद्धान्त है।

करना तो लोक-हितार्थ होना चाहिए; निज-सुख के लिए करना तो भोग है। पर-हित के भाव से करने से राग की निवृत्ति और करने का अन्त हो जाता है। इसलिए जो हम कर सकते हैं, उसको सही ढंग से कर दें, बाकी न रखें, और जो नहीं कर सकते, उसको भुला दें अर्थात् उसके करने की न सोचें।

करना शेष रहने के कारण ही जीने की आशा होती है और जीने की आशा के रहते मृत्यु का भय उत्पन्न होता है। नहीं तो यह जीव तो अमर है, प्रभु का अंश ही है, इसकी मृत्यु कैसी? परन्तु जीने की आशा रहने के कारण मरने से भय लगता है।

जब तक जीने की आशा है, तब तक मरने का भय नहीं मिट सकता और करने लायक बाकी बना रहने से जीने की आशा नहीं मिटती।

जो व्यक्ति करने योग्य काम को सही ढंग से पूरा कर देता है वह फिर जीने की आशा किसलिए रखेगा?

करने लायक को सही ढंग से पूरा करते ही जीने की आशा और मरने का भय मिट जाता है। यही सही ढंग से करने की पहचान है। जीने की आशा और मरने का भय मिट जाना ही मुक्ति है। इसलिए करने लायक को सही ढंग से पूरा करके करने का अन्त कर देना चाहिए और सब प्रकार की कामनाओं का त्याग करके चाह-रहित हो जाना चाहिए।

मनुष्य के जीवन में करना और पाना ही श्रम है। अतएव इसका अन्त होने पर ही सच्चा विश्राम है। चाह-मात्र से और तो कुछ होता नहीं। हाँ, बन्धन अवश्य हो जाता है।

चाह तो एकमात्र भगवान् की ही होनी चाहिए, करने-पाने की नहीं। जिसके हृदय में भगवान् को पाने की सच्ची लालसा उत्पन्न हो गई, समझो उसके सब साधन हो गए। इसलिए भगवत्-प्राप्ति की लालसा रखो, यही सबका सार है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (75)

**साधक महानुभाव!**

सबसे बड़ा असत् जो जीवन में ठहरा हुआ है वह है-शरीर की ममता। उसकी ममता करने से वह पराधीनता ही देगा, इस बात को हम सब जानते हैं। फिर भी हम शरीर को अपना मानते हैं, उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं, यह बड़ी भारी पराधीनता है।

भगवान् के हम भक्त हो जायें, जगत् से अतीत का जीवन प्राप्त हो जाए, इसमें प्रसन्नता नहीं अनुभव करते। मन की बात पूरी करने में जीवन-बुद्धि रखते हैं। यह जीवन का सबसे काला समय है।

निज-विवेक से यह स्पष्ट मालूम होता है कि पराधीनता गुण नहीं, दोष है। कामनापूर्ति का प्रलोभन ही पराधीनता है और यही हमारी निर्बलता है। कामना-अपूर्ति की वेदना पराधीनता से मुक्त कराती है।

यह पराधीनता जो जीवन में आ गई है कि संसार और परमात्मा मिलकर हमारे मन की बात पूरी कर दें, अर्थात् दूसरे लोग हमारे काम आ जाएँ, तो जीवन में पराधीनता, जड़ता और अभाव रहेगा ही।

परमात्मा ने हमें सबके काम आने के लिए बनाया है। हम सबके काम आएँ--यदि यह स्वीकार कर लिया जाए, तो जीवन में पराधीनता नहीं रहेगी। परमात्मा से आपकी उत्पत्ति हुई है और आपमें परमात्मा की ही सत्ता है।

यदि हमारा जीवन उस अनन्त के निर्भर हो जाए, तो इसमें हमारी कोई विशेषता नहीं है। वे जैसा चाहें हमारा उपयोग करें। इस निर्भरता में उनसे आत्मीयता होगी और प्रियता की अभिव्यक्ति होगी। जिसने हमारा-आपका निर्माण किया है, उसने हमें यह स्वाधीनता भी दी है कि हम दिव्य-चिन्मय जीवन को प्राप्त कर सकते हैं।

वस्तु की चाह तुम्हारी उपजाई हुई भूल है, उसे तुम मिटा सकते हो। इसका दायित्व तुम पर ही है, और किसी पर नहीं। इसे कठिन काम मत समझो। यदि इसे कठिन मानोगे, तो वर्तमान में कभी सिद्धि नहीं मिलेगी।

प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग द्वारा जब साधक व्यक्तियों की यथेष्ट सेवा करने लगता है और उसके बदले में किसी प्रकार के सुख की आशा नहीं रखता, यहाँ तक कि सेवक कहलाने की भी जिसमें कामना नहीं है, तब उसका किसी वस्तु से तथा व्यक्ति से सम्बन्ध नहीं रहता।

जो कुछ भी चाहता है उसी का वस्तु-व्यक्ति आदि से सम्बन्ध रहता है, जिसके रहते हुए न तो निर्विकारता ही प्राप्त होती है और न अहम् का ही नाश होता है। विकारों के रहते हुए पराधीनता का नाश सम्भव नहीं है। पराधीनता का नाश हुए बिना जड़ता का अभाव हो नहीं सकता। उसके हुए बिना चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं होती।

अहम् का नाश हुए बिना भेद का नाश नहीं होता और उसके हुए बिना अनन्त के प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। अत: वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य है।

सम्बन्ध-विच्छेद से किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की क्षति नहीं होती और न प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा में ही बाधा होती है। मंगलमय विधान के अनुसार प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग में ही आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि और व्यक्तियों की सेवा में ही सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति निहित है। सम्बन्ध-विच्छेद बिना किए न तो प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग ही सम्भव है और न व्यक्तियों की सेवा।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (76)

**प्रिय साधक महानुभाव!**

सच बात तो यह है कि जिसको अमरत्व की अभिलाषा होती है, उसी को अमरत्व प्राप्त होता है। जिस काल में अमरत्व की अभिलाषा पूर्णरूप से जाग्रत हो जाती है, उसी समय भोग की चाह मिट जाती है। फिर अमरत्व की अभिलाषा स्वतः पूरी हो जाती है।

अपने साधन के प्रति यह आवश्यक है कि वह अपने लिए रुचिकर हो। साधन रुचिकर होते हुए भी विवेक-विरोधी न हो क्योंकि जो रुचि विवेक-विरोधी होती है, वह भोग है, साधन नहीं।

वस्तु, व्यक्ति आदि में सत्यता और सुन्दरता रुचिकर हो सकती है। किन्तु वह रुचि विवेक-विरोधी है, क्योंकि कोई भी वस्तु ऐसी हो ही नहीं सकती, जिसकी सुन्दरता नित्य हो, जिसमें मलीनता न हो और जो अविनाशी हो तथा जिससे नित्य सम्बन्ध सुरक्षित रह सके। ऐसी स्थिति में वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा साधन हो सकता है, उनकी ममता और उनका भोग साधन नहीं हो सकता।

अतः योग्यता, ईमानदारी, परिश्रमपूर्वक उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन तथा उनका सदुपयोग एवं निर्मोहतापूर्वक व्यक्तियों की सेवा करने की रुचि में निज-विवेक का विरोध नहीं है।

समस्त साधनों का आरम्भ होता है-सुख की आशा से रहित की हुई सेवा से। क्योंकि यह कर्त्तव्य-विज्ञान है। और समस्त साधनों का अन्त होता है-प्रीति की अभिव्यक्ति में। क्योंकि प्रीति से ही अपने साध्य का रस मिलता है।

इस दृष्टि से सुख की आशा का त्याग और प्रेमास्पद का रस देने की उत्कट लालसा में ही साधन-तत्त्व से अभिन्नता हो सकती है, जिसके होते ही साधन में स्वाभाविकता आ जाती है जो साधकों को अभीष्ट है।

साधन की लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों असाधन-जनित कामनायें अपने आप मिटती जाती हैं। ज्यों-ज्यों असाधन-जनित कामनायें मिटती जाती हैं, त्यों-त्यों साधन की लालसा वर्तमान जीवन की वस्तु होती जाती है।

यह नियम है कि जो लालसा वर्तमान जीवन से सम्बन्ध रखती है, उसकी पूर्ति स्वतः हो जाती है। साधन की लालसा की पूर्ति में ही साधक का

अस्तित्व साधन होकर साधन-तत्त्व के समान ही नित्य-तत्त्व है। इस कारण प्रत्येक साधक को साधन-सम्पन्न होना अनिवार्य है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (77)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

यह बात प्रत्येक साधक को समझ लेनी चाहिए कि हमें मुक्त उसी से होना है जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है। इस प्रकार हमें शरीर और संसार दोनों से मुक्त होना है। वह तभी सम्भव है जबकि हमारी कोई कामना न रहे, यानी हम अचाह हो जाएँ।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मुक्त होने में बाधा क्या है? तो कहना होगा कि हम सुख-भोग की आसक्ति को भी सुरक्षित रखना चाहते हैं और मुक्ति भी चाहते हैं। पर यह दोनों साथ-साथ सम्भव नहीं हैं। सुख-भोग की आसक्ति को तो मिटाना ही पड़ेगा। उसके लिये हमें सभी कामनाओं की निवृत्ति करनी होगी और कामनाओं की निवृत्ति एकमात्र विवेक का आदर करने पर होती है।

विवेक का आदर करने की सामर्थ्य तब आती है, जब हम प्राप्त सुख को दु:खियों की सेवा में लगा देते हैं। अपने से दु:खी को देखकर ही हमें सुख की अनुभूति होती है। इस प्रकार सुख दु:खियों की देन है। यदि हम प्राप्त सुख को उदारतापूर्वक बिना किसी प्रत्युपकार की आशा के दु:खियों की सेवा में लगा दें, यानी उनकी सेवा कर दें, तो बहुत ही सुगमतापूर्वक सुख-भोग की आसक्ति मिट सकती है और मुक्त हो सकते हैं।

यदि विवेकपूर्वक अपने को देह न स्वीकार किया जाए तो मन स्वभाव से ही चिन्तन-रहित होकर उस चेतन में विलीन हो जाता है जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। आप सभी साधक महानुभाव विवेकवित् होकर अमरत्व को प्राप्त करें, इसी सद्‌भावना के साथ!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (78)

**मेरे निजस्वरूप!**

सत्संग का अर्थ है-सत्य का संग करना, यानी अपने जीवन में सत्यनिष्ठा का धारण करना, यानी सत्य का व्रत लेना। सत्य का संग करने के लिये साधक को पहले तो श्रम-रहित होना पड़ेगा।

शरीर से काम न करने का नाम श्रम-रहित होना नहीं है। श्रम-रहित होने का अर्थ है कि संकल्प-रहित होना। करने और पाने के जो संकल्प हैं, यही साधक के जीवन में श्रम है।

मनुष्य करने और पाने में ही उलझा रहता है। इसलिए संकल्प-रहित होना बहुत जरूरी बात है। प्रश्न होता है कि हम श्रम-रहित कैसे बनें?

श्रम-रहित होने का यह उपाय है-जो काम करने लायक हो, उसको फलासक्ति छोड़कर सही ढंग से पूरा करके राग-रहित हो जायें। और पाने का लालच छोड़कर चाहरहित हो जायें, और करने की रुचि का भी त्याग करके कर्तृत्व के अभिमान से रहित हो जायें।

ये तीनों बातें चाहे तो कर्त्तव्य-परायण होकर कर लें, चाहे असंग होकर कर लें और चाहे भगवान् की शरण होकर कर लें। इन तीनों बातों के होने पर ही मनुष्य श्रम-रहित हो सकता है।

श्रम-रहित होने पर ही सत्य का संग होता है और तभी सत्य की प्राप्ति होती है। यही मानव जीवन का उद्देश्य है।

साधन सभी अवस्थाओं में किया जा सकता है। जो परिस्थिति विशेष की अपेक्षा रखता है, उसको तो साधन ही नहीं कह सकते।

शरीर से काम कर देने तथा वस्तु दे देने का नाम ही सेवा नहीं है। सेवा तो हृदय का भाव है, जो हर परिस्थिति में मानव भली प्रकार कर सकता है।

सेवा का मूल-मन्त्र यह है कि जो हमको मिला है वह मेरा नहीं है और मेरे लिये भी नहीं है। यहाँ से सेवा का आरम्भ होता है।

अपने को जो मिला है उसको पर-सेवा में लगा देना सेवा है। सबसे बड़ी सेवा तो अपने को सदाचारी और संयमी बना लेना है अथवा किसी को बुरा न मानना और किसी का बुरा नहीं चाहना है, अथवा सुखी को देखकर प्रसन्न और दु:खी को देखकर करुणित होना है।

अपना सुधार कर लेना ही सच्ची सेवा है। जिसने अपना सुधार कर लिया, उसको सारे विश्व की पूरी सेवा से उत्पन्न होने वाले फल की प्राप्ति होती है।

अपना सुधार क्या है? शरीर को श्रमशील और सदाचारी बना लेना-स्थूल शरीर का सुधार है।

मन को संयमी और संकल्प-रहित बना लेना, बुद्धि को विवेकवती तथा इन्द्रियज्ञान पर विजयी बना लेना, चित्त को अनुरागी और व्यर्थ चिन्तन से रहित तथा अहं को सब प्रकार के अभिमान से रहित बना लेना-सूक्ष्म शरीर का सुधार है।

सर्व प्रकार की वासनाओं का त्याग करके असंग हो जाना—कारण शरीर का सुधार है।

इस प्रकार जिसने अपने तीनों शरीरों का सुधार कर लिया उसको सारे विश्व की सेवा का फल मिलता है।

उसके शरीर के परमाणुओं द्वारा सारे विश्व का हित होता है और सबका हित करना तथा चाहना ही सबसे उत्तम सेवा है।

जो दीख रहा है, वह मेरा नहीं है और मेरे लिए भी नहीं है-यह भजन का मूलमन्त्र है।

सेवा और भजन दोनों से ही प्रेम की प्राप्ति होती है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (79)

**मेरे निजस्वरूप!**

मनुष्य अपनी बुद्धिमानी को दूसरों पर लगाता रहता है, यानी दूसरों को समझाने में बुद्धि का उपयोग करता है और बदले में सज्जन कहलाकर बड़ाई का रस लेता रहता है। यही उसकी सबसे बड़ी असावधानी है।

यदि वह अपनी बुद्धि से अपनी गुत्थी सुलझावे, तो उसको बड़ा भारी लाभ हो सकता है। कारण, मानव को बुद्धि अपनी उलझन सुलझाने के लिये ही मिली है।

अपनी वस्तु-स्थिति को सामने रखकर उस पर विचार करना ही अपनी गुत्थी सुलझाना है।

हम करते यह हैं कि अपनी वस्तु-स्थिति पर तो विचार करते नहीं, या तो भूत की घटनाओं की स्मृति करते रहते हैं और उन्हीं के द्वन्द्व में फँसकर

अपने को दीन या अभिमानी मानते रहते हैं। अथवा जीवन की आशाओं के चिन्तन में फँसकर चिन्तित बने रहते हैं।

अपनी वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करते और न ही अपनी वस्तु-स्थिति पर ही विचार करते हैं। इसीलिए हमारी उलझनें सुलझ नहीं पातीं।

गुरुजनों से सुनकर थोड़ी शुभ क्रिया और आंशिक साधन करते हैं, परन्तु जब उनमें शान्ति नहीं मिलती; तो कहते हैं कि हमें कोई अच्छा गुरु नहीं मिला, अथवा हमारा भाग्य अच्छा नहीं है, हम पर भगवान् की कृपा नहीं है, या हमारी परिस्थिति अच्छी नहीं है। इत्यादि-इत्यादि।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

**(80)**

**साधक महानुभाव!**

जो मनुष्य भगवान् को छोड़कर कुछ भी चाहता है तथा भगवान् का भजन करके भगवान् से कुछ भी माँगता है, वह भगवान् के प्रेम का पात्र नहीं होता, यानी उसको भगवान् का प्रेम नहीं मिलता है। उसका कल्याण भी नहीं होता।

इसलिए मनुष्य के जीवन में कुछ भी चाहने तथा माँगने का स्थान ही नहीं है। भक्तों को भगवान् आवश्यक वस्तु तो बिना माँगे और बिना चाहे ही देते रहते हैं और अनावश्यक वस्तु भक्त के चाहने और माँगने पर भी नहीं देते।

अत: भक्त का भगवान् के अलावा कुछ भी चाहना उसकी भूल के सिवाय और कुछ नहीं है।

भक्ति-मार्ग के साधक को तो 'स्व' में ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। कारण, 'स्व' में सन्तुष्ट हुए बिना मनुष्य न तो उदार हो सकता है और न प्रेमी हो सकता है।

उदार हुए बिना जगत् प्रसन्न नहीं होता और प्रेमी हुए बिना भगवान् प्रसन्न नहीं होते। उदार और प्रेमी से जगत् और जगत्पति दोनों प्रसन्न रहते हैं। इसलिए 'स्व' में रहो।

दोष और कामना वाला मनुष्य निर्भय और निश्चिन्त नहीं रह सकता। दोषों के नाश होने पर भय मिटता है और कामनाओं के नाश होने पर ही चिन्ता मिटती है। निर्भय और निश्चिन्त होने पर ही ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। इस दृष्टि से 'स्व' में सन्तुष्टि अत्यावश्यक है।

जो मनुष्य पराश्रय और प्रवृत्ति को पसन्द करते हैं, वे 'स्व' में सन्तुष्ट नहीं रह सकते। 'स्व' में सन्तुष्टि एवं विश्राम में ही जीवन है-जो इस बात को स्वीकार करता है, वही 'स्व' में सन्तुष्ट रह सकता है।

हम पराश्रय और प्रवृत्ति को पसन्द कर लेते हैं, तभी हमारे जीवन में दोष और कामनाओं की उत्पत्ति होती है।

जिस वस्तु को हम पसन्द नहीं करेंगे, हमारे पास पड़ी होने पर भी उसमें हमारा मन नहीं लगेगा। उसकी तरफ हमारा खिंचाव नहीं होगा।

जिसको हम पसन्द कर लेंगे तो पास न होने पर भी उसकी याद आएगी, उसकी तरफ खिंचाव होगा। उसकी चाह पैदा हो जावेगी, वह प्यारी लगने लगेगी।

याद आना, प्यारा लगना, अभिलाषा पैदा होना-यही तो भजन है! विचारकों ने इसे 'साधन' कह दिया और श्रद्धालुओं ने 'भजन' कह दिया। यानी विचारकों ने कह दिया-विनाशी को नापसन्द कर दो; श्रद्धालुओं ने कहा-अविनाशी को पसन्द करो।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

**(81)**

**मेरे निजस्वरूप!**

चाह-रहित होने का अर्थ केवल इतना ही है कि अपने आपको सभी के लिए समर्पित कर दो, क्योंकि जो सभी के लिए नहीं है, वह प्रभु के लिए भी नहीं होता।

ऐसा कौन है, जिसके मन में सभी के लिए हित की बात है, हित का भाव है? उससे उसका भी अहित नहीं होता, जिसने उसका अहित किया है। वह वही है, जो चाह-रहित है।

दूसरों के लिए दु:ख को सहर्ष सहते हुए मन में यह भाव रहे कि हे प्रभु! दु:ख देने वाले का अहित न हो, उसका भला हो। उसका भला हो

जाएगा, तो उसमें दु:ख देने की प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि दु:खी होकर ही आदमी किसी को दु:ख देता है। इसलिए सबके हित का भाव रखो, किसी से कुछ मत चाहो। तब तुमसे किसी को भय नहीं होगा और न तुम्हें कोई भयभीत कर सकेगा। क्योंकि जो तुमने दिया नहीं है, वह तुम्हें मिलेगा कैसे?

अत: साधन में अस्वाभाविकता और असिद्धि नहीं है। किसी से कुछ न चाहें और किसी का अहित न करें, तो भक्त को भगवान्, अशान्त को चिर-शान्ति और दु:खी को दु:ख निवृत्ति मिल जाएगी। परन्तु आज साधन हमारे जीवन का बोझ मालूम होता है।

साधन और जीवन में तो इतनी स्वाभाविकता आ जानी चाहिए कि उसका भास ही न हो। पर आज साधन में श्रम क्यों मालूम होता है? इसलिए कि साधन की आवश्यकता नहीं है, साधन में प्रियता नहीं है, जिसकी सेवा कर रहे हैं, उसको अपना नहीं मानते।

जो साधन को अस्वाभाविक ढंग से करेगा तथा जो साधन सिखाने को ही साधन मानेगा, उससे बहुत बड़ा असाधन होगा। इसलिए साधन की अभिव्यक्ति जीवन में से होनी चाहिए, तब साधन में स्वाभाविकता आएगी।

मानव-जीवन किसी कर्म का फल नहीं है, वरन् अनन्त की कृपा-शक्ति से निर्मित है। इस जीवन का आरम्भ किसी की उदारता में निहित है। मिली हुई वस्तु को अपना मानकर व्यक्ति दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध होता रहता है।

अपने में जब तक दीनता और अभिमान है, तब तक प्रभु में विश्वास नहीं हो सकता। दीनता और अभिमान मिटेगा, किसी भी वस्तु को अपना न मानने से। विचारशील साधक, प्रभु-विश्वासी साधक और भौतिक दर्शन का ज्ञाता-ये तीनों किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानते।

यह देने वाले प्रभु की दयालुता है कि उनके ही सामने व्यक्ति उनकी दी हुई वस्तुओं का दुरुपयोग करते हैं, फिर भी वे वस्तु देना बन्द नहीं करते। ऐसे कृपालु प्रभु को हम अपना नहीं मानते, यह कितनी दु:खद बात है।

यदि आपके पास अपना करके कुछ है, तो आप भगवान् को अपना नहीं कह सकते। यदि आपके पास अपना करके कुछ नहीं है, तो आप भगवान् को अपना कह सकते हैं, और यही जीवन का सत्य है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

## (82)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

'मानव' है-किसी की सेवा, किसी का प्रेम। प्रेम श्रम-साध्य नहीं है, प्रेम का ह्रास नहीं होता। प्रेम के लेने में तृप्ति नहीं होती, देने में घटता नहीं, नित-नव बढ़ता ही रहता है। प्राण-शक्ति का नाश होता है, पर विश्वास का नाश नहीं होता। अपने द्वारा आपने यह स्वीकार किया है कि प्रभु हैं-यहाँ से भजन का आरम्भ होता है।

विश्वास इतना दृढ़ और स्वतन्त्र होना चाहिए कि शास्त्र आदि का प्रमाण भी न हो, तब भी आप विश्वास करें कि 'प्रभु हैं'। जीवन में से प्रभु विश्वास न निकले, तब भजन होगा। जिसे कोई वस्तु, परिस्थिति आदि सुख नहीं दे पाती, वही भजन करता है। जिसके जीवन में निरपेक्ष रस की माँग है, वह प्रभु विश्वास कर सकता है। जगत् से अतीत के जीवन में जिसकी आस्था है, वह विश्वास कर सकता है, भजन कर सकता है।

हमारी जो कामनाएँ हैं, वे पूरी हो जाएँ, यह ईश्वरवाद नहीं है। कामना-पूर्ति और मोक्ष चाहने वाला प्राणी ईश्वर-प्रेमी नहीं हो सकता, ईश्वर से प्रेम नहीं कर सकता। दिल देवे, सो दिलबर को पावे।' कामना-पूर्ति, निवृत्ति और मोक्ष, तीनों को जो छोड़ देता है, वही दिल दे सकता है। प्रभु से कह दो-'मेरी इच्छा नहीं, तुम्हारी इच्छा पूरी हो'।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (83)

**मेरे निजस्वरूप!**

जहाँ तक हो सके, कुछ काल के लिए लोग शान्त हो जाया करें, कारण कि प्रत्येक कार्य के मूल में या श्रम के मूल में सभी क्रिया-रहित होते हैं। यानी श्रम के मूल में श्रम-रहित और श्रम के अन्त में श्रम-रहित होना-यह सभी का अनुभव है। प्रत्येक गति के मूल में स्थिरता और गति के अन्त में भी स्थिरता है। यह प्राकृतिक तथा वैज्ञानिक तथ्य है।

प्रत्येक संकल्प की उत्पत्ति से पूर्व और प्रत्येक संकल्प की पूर्ति के पश्चात् स्वभाव से निर्विकल्पता रहती ही है। इस निर्विकल्पता का नाम ही 'मूक सत्संग' है, जिससे आवश्यक शक्ति का विकास होता है।

सुनने के पूर्व हम शान्त हो जायें और सुनने के पश्चात् भी शान्त हो जायें। सुनने के पूर्व की शान्ति हमें सुनने की यथेष्ट सामर्थ्य प्रदान करेगी और श्रवण के अन्त में जो शान्ति होगी, वह सुने हुए को स्थिर कर देगी।

यह जो शान्त रहना है, यह बहुत बड़ा साधन है। पर इस रहस्य को कोई बिरले ही जानते हैं। इसलिए जहाँ तक हो सके, हमें स्वभाव से ही शान्त रहना चाहिए। इससें अहंकृति न लगाएँ अर्थात्, 'हम नहीं बोलेंगे' ऐसी भावना भी न हो। अपितु सहज भाव से न बोलना, न सोचना, न देखना आ जाए, अर्थात् इन्द्रियों को भीतर-बाहर से शान्त रहने का स्वभाव बना लें, तो बहुत लाभ होगा।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणान्द**

**(84)**

**उपस्थित साधक महानुभाव!**

वर्तमान दशा का अध्ययन साधन-निर्माण की भूमि है। अब प्रश्न यह है कि वर्तमान दशा का अध्ययन कैसे किया जाये? तो निज-विवेक के प्रकाश में अपनी उस रुचि को देखा जाए, जो बीजरूप से विद्यमान है और उस योग्यता को देखा जाए, जिससे विद्यमान रुचि की पूर्ति और निवृत्ति हो सके।

यह नियम है कि विद्यमान रुचि की पूर्ति और निवृत्ति के बिना वास्तविक जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकती। यानी इस परिवर्तनशील क्षणभंगुर जीवन से मुक्ति नहीं मिल सकती।

वर्तमान दशा के अध्ययन से दो बातें स्पष्ट दिखाई देती हैं-एक तो यह कि इस परिवर्तनशील जीवन के प्रति अपना राग है और दूसरे नित्य जीवन की लालसा भी है। यही दो अपनी वर्तमान में विद्यमान रुचियाँ हैं। परिवर्तनशील से जो हमारा राग हो गया है, उसकी निवृत्ति हो जाए और नित्य जीवन की प्राप्ति हो जाए। इसी के लिए साधन-निर्माण की अपेक्षा है। और साधन-निर्माण तभी हो सकता है, जब हम अपनी वर्तमान दशा, यानी वस्तुस्थिति को भली-भाँति जान लें।

वस्तुस्थिति को जानने के लिए हमें अपने सभी संकल्पों को भली प्रकार देखना होगा। जो संकल्प विवेक-विरोधी है, यानी किसी के लिए भी अहितकर हैं, और जिनको वर्तमान में पूरा करना आवश्यक नहीं है, उनका त्याग करना

होगा। जो संकल्प विवेक-विरोधी नहीं हैं, लेकिन अपनी सामर्थ्य से परे हैं, यानी जिन्हें हम पूरा नहीं कर सकते, उन्हें प्रभु, अथवा विश्व के समर्पित कर निश्चिन्त हो जाना है। ऐसा अनुभव में आया है कि कालान्तर में ऐसे शुभ संकल्प को पूरा करने की सामर्थ्य स्वत: आ जाती है।

जो शुद्ध संकल्प हैं, और जिन संकल्पों की पूर्ति में किसी का अहित नहीं है, वे स्वत: पूरे होते हैं, ऐसा विधान है। अशुद्ध संकल्पों के त्याग से निर्वैरता और निर्भयता आ जाती है। निर्वैरता से द्वेष मिट जाता है और प्रीति की जागृति हो जाती है और निर्भयता से आत्म-विश्वास में दृढ़ता आ जाती है और अपने साधन में अविचल श्रद्धा हो जाती है।

साधननिष्ठ होने के लिए हमें इन तीन प्रश्नों पर विचार करना अवश्यक है-

(1) हमें क्या करना है? (2) हमें क्या जानना है? (3) हमें अपने को क्या मानना है? साधन की दृष्टि से हमें प्राप्त बल का सदुपयोग तथा प्राप्त विवेक का आदर करना है। बल के सदुपयोग से सभी निर्बलतायें मिट जाती हैं और विवेक के आदर से नासमझी मिट जाती है और नि:सन्देहता आ जाती है। नि:सन्देहता से जीवन और ज्ञान में भेद नहीं रहता।

हम इन्द्रियों के द्वारा विषयों को और बुद्धि के द्वारा शरीर, वस्तु, परिस्थिति, अवस्था आदि के परिवर्तनों को जानते हैं। जब तक प्राणी पर इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव रहता है, तब तक राग और द्वेष की उत्पत्ति होती रहती है। जब बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव होने लगता है, तब राग और द्वेष त्याग और प्रेम में बदल जाते हैं।

हम अपने को साधक मानकर ही साधन-निर्माण कर सकते हैं और अपने साध्य को प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि साधक की कोई माँग होती है और उसका कोई दायित्व भी होता है। हमारी माँग है अविनाशी रसरूप जीवन की और हमारा दायित्व है-असत् के त्याग का, यानी हम प्राप्त बल का सदुपयोग और विवेक का आदर करें।

**ॐ आनन्द!**

**तुम्हारा**

**शरणानन्द**

## (85)

**साधक महानुभाव!**

जो किसी को भी दोषी नहीं मानता, उसके जीवन में दोष की उत्पत्ति नहीं होती। निर्दोष जीवन में ही प्रीति का प्रादुर्भाव होता है।

जो हमारे बिना रह सकता है, उस पर क्रोध मत करो, उससे द्वेष मत करो। किसी ने हमें दु:ख दिया है, यदि ऐसा प्रतीत हो, तो समझना चाहिए कि दु:ख देने वाला स्वयं दु:खी है, इसलिए उसने दु:ख दिया है, अत: वह क्षमा का पात्र है।

यदि हमसे किसी को कष्ट मिला है, तो उससे हमें क्षमा माँग लेनी चाहिए। सब प्रकार से निश्चिन्त व निर्भय हो जाने पर तथा संसार से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर भय, चिन्ता, नीरसता शेष नहीं रहते।

जिससे सुख मिलता है, उससे राग हो जाता है और जो सुख में बाधक बनता है, उससे द्वेष हो जाता है। अपने दु:ख का कारण अन्य को मानने से द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग और द्वेष दोनों ही के त्याग से जीवन में सत्य और अहिंसा का प्रादुर्भाव होता है।

जहाँ सत्य है, वहाँ अभाव नहीं है और जहाँ अहिंसा है, वहाँ नीरसता नहीं है। इस दृष्टि से सत्य और अहिंसा के अपनाने से जीव पूर्ण और सरस बन जाता है। हिंसा-युक्त जीवन में भोग है और अहिंसा के जीवन में योग है। इसलिए क्षमा माँगकर और क्षमा प्रदान कर वर्तमान जीवन को सरस बनाओ।

**ॐ आनद!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (86)

**उपस्थित साधक महानुभाव!**

वस्तु-स्थिति को जानने के लिये हमें अपन सभी संकल्पों को भली प्रकार देखना होगा। जो संकल्प विवेक-विरोधी हैं, यानी किसी के लिये भी अहितकर हैं और जिनको वर्तमान में पूरा करना आवश्यक नहीं है, उनका त्याग करना होगा। जो संकल्प विवेक-विरोधी नहीं हैं, लेकिन अपनी सामर्थ्य से परे हैं, यानी जिन्हें हम पूरा नहीं कर सकते, उन्हें प्रभु अथवा विश्व के समर्पित कर निश्चिन्त हो जाना है। ऐसा अनुभव में आया है कि कालान्तर में ऐसे शुभ संकल्प को पूरा करने की सामर्थ्य स्वत: आ जाती है।

जो शुद्ध संकल्प होते हैं, और जिन संकल्पों की पूर्ति में किसी का अहित नहीं है, वे स्वतः पूरे होते हैं, ऐसा विधान है। अशुद्ध संकल्पों के त्याग से निर्वैरता और निर्भयता आ जाती है। निर्वैरता से द्वेष मिट जाता है और प्रीति की जागृति हो जाती है और निर्भयता से आत्मविश्वास में दृढ़ता आ जाती है और अपने साधन में अविचल श्रद्धा हो जाती है।

साधन की दृष्टि से हमें प्राप्त बल का सदुपयोग तथा प्राप्त विवेक का आदर करना है। बल के सदुपयोग से सभी निर्बलतायें मिट जाती हैं और विवेक के आदर से नासमझी मिट जाती है और निःसन्देहता आ जाती है। निःसन्देहता से जीवन और ज्ञान में भेद नहीं रहता।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

**(87)**

**मेरे निजस्वरूप!**

मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति होने पर तत्त्व-दृष्टि होती है। तत्त्व-दृष्टि में भिन्न कुछ नहीं प्रतीत होता। भाव का सद्भाव होने पर भक्ति-दृष्टि होती है। भक्ति-दृष्टि में प्रेम-पात्र से भिन्न कुछ नहीं रहता। तत्त्व-दृष्टि और भक्ति-दृष्टि दोनों में ही सृष्टि का अभाव है। सृष्टि तो केवल अपने में विषय-भोग को धारण करने पर प्रतीत होती है।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों से असंग होने पर तुरीयावस्था का अनुभव होता है। अथवा यों कहिए, तीनों शरीरों-स्थूल, सूक्ष्म और कारण-से असंग होने पर तुरीयावस्था प्राप्त होती है। स्थूल शरीर से जो अनुभव में आता है वह जाग्रत है, सूक्ष्म शरीर से जो अनुभव में आता है वह स्वप्न है और जो केवल कारण शरीर से अनुभव में आता है वह सुषुप्ति है।

यह अविचल होते ही निर्विकल्प स्थिति प्राप्त होगी और निर्विकल्प स्थिति से असंग होने पर निर्विकल्प बोध होगा, जो तीनों शरीरों से असंग करने में समर्थ है। अथवा यों कहिए कि निर्विकल्प-बोध होने पर तीनों शरीरों से असंगता होती है। यही तुरीयावस्था है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (88)

**साधक महानुभाव!**

शरीर के द्वारा हमें वह नहीं मिला, जो हमारी माँग है। शरीर के बिना जो जीवन है, वहीं सभी को अभीष्ट है। उस जीवन के लिये शरीर की कोई अपेक्षा नहीं मालूम होती। शरीर के न रहने का जिन लागों को भय है, वे विचार करें कि क्या शरीर को सदैव बनाये रखना सम्भव है? यदि सम्भव नहीं है, तो शीघ्र उस जीवन की माँग अनुभव करना चाहिये अथवा खोज करना चाहिये, जो शरीर के बिना सदैव ज्यों-का-त्यों है। जो शरीर से अतीत जीवन है, उसकी खोज शरीर के सहयोग से नहीं होगी।

अब विचार यह करना है कि शरीर के सहयोग के बिना हम क्या कर सकते हैं। हम अचाह हो सकते हैं, अप्रयत्न हो सकते हैं और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागत हो सकते हैं। अचाह होने का अर्थ केवल इतना ही है कि हमें वह नहीं चाहिये, जो शरीर और संसार की सहायता से प्राप्त होता है।

बेचारा शरीर और संसार हमारी माँग की पूर्ति में लेशमात्र भी बाधक अथवा सहायक नहीं है। जब तक इस सत्य का अनुभव नहीं होता, तब तक शरीर और संसार से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता। और उसके बिना हुये साधक अपने को अपने में 'सन्तुष्ट' नहीं कर सकता। अपने में सन्तुष्ट हुये बिना अपने को अपने प्रेमास्पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। अपने में सन्तुष्ट होना ही वास्तविक योग है। योग की पूर्णता में बोध और प्रेम निहित है। योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है।

शरीर का सदुपयोग प्राप्त परिस्थिति के सुदपयोग में है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग लोकहित में भले ही हेतु हो, उससे अपनी वास्तविक माँग पूरी नहीं होती। वास्तविक माँग की तीव्र जागृति ही उसकी पूर्ति में हेतु है। वास्तविक माँग काम को खा लेती है। काम-रहित होते ही देह का तादात्म्य टूट जाता है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने को अपने में सन्तुष्ट पाता है।

प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा उससे असंग हो जाओ, सफलता अवश्यम्भावी है। प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोग में ही साधक की स्वाधीनता है। परिस्थिति में जीवन-बुद्धि भारी भूल है।

जीवन तथा जीवनधन अपने में ही है, इस वास्तविकता में विकल्प मत करो। निर्विकल्प आस्था महान बलवती है। पर यह रहस्य प्रभु-विश्वासी

शरणागत साधक को ही स्पष्ट होता है। शरीर के रहते हुये ही शरीर की आवश्यकता से मुक्त होने के लिये यथाशक्ति प्रयत्नशील रहो। प्रत्येक साधक को आवश्यक सामर्थ्य बिना ही माँगे मिलती है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

वास्तविकता में अविचल आस्था करो और लक्ष्य से निराश मत हो, अपितु लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उत्तरोत्तर नित-नव उत्साह बढ़ाते रहना चाहिये। उत्साहहीनता तथा निराशा के लिए साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

अतः सभी साधक महानुभाव साध्य की प्राप्ति के लिये अथक प्रयत्नशील रहें, सफलता अवश्यम्भवी है। इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (89)

**सत्संग-प्रेमी साधक महानुभाव!**

'कोई गैर नहीं'-यह जीवन का सत्य है। हम सब स्वभाव से सबसे आदर, प्यार और अपनी रक्षा की माँग करते हैं। यदि हमारी सबसे किसी प्रकार की एकता न होती, तो हममें यह माँग भी न होती। यह नियम है कि जिससे हमारी एकता नहीं होती उससे हमारी कोई माँग भी नहीं होती है। इस दृष्टि से यह सिद्ध है कि मानव-मात्र में एकता स्वाभाविक है।

जब हम इस सत्य को भूल जाते हैं तब हममें भेद तथा भिन्नता की उत्पत्ति हो जाती है, जो राग-द्वेष आदि अनेक विकारों की जननी है और संघर्ष का कारण है। हम अपने प्राप्त बल का सदुपयोग न करके दुरुपयोग करने लगते हैं अर्थात् कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं।

यदि हम चाहते हैं कि कोई हमारे प्रति अपने बल का दुरुपयोग न करे, तो हमको अपने को प्राप्त बल के दुरुपयोग से रहित करना होगा। इसी को कर्त्तव्य कहते हैं। यह तभी सम्भव होगा जब हम स्वीकार करें कि कोई गैर नहीं है, अपितु सब अपने हैं।

जीवन में जो भेद और भिन्नता दिखाई देती है, वह एकता की ही पोषक है। कोई भी मानव बल, योग्यता और परिस्थिति में समान नहीं है। यह

असमानता ही कर्त्तव्य की जननी है। समानता में प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। एक सबल दूसरे सबल के क्या काम आ सकता है? किसी निर्बल के ही काम आ सकता है? एक डाक्टर दूसरे डाक्टर के क्या काम आ सकता है? वह तो किसी रोगी के ही काम आ सकता है।

इस दृष्टि से यह असमानता ही हम सबको कर्त्तव्य-निष्ठ होने की प्रेरणा देती है, जो मानव-मात्र में एकता प्रदान करने में समर्थ है। और इससे हमें इस सत्य का भी अनुभव होता है कि कोई गैर नहीं है अर्थात् अनेकता में एकता का दर्शन होता है।

इस एकता के अनुभव से हम सब बुराई-रहित हो जाते हैं, क्योंकि अपनों के साथ कोई बुराई नहीं करता। बुराई सदैव गैरों के साथ होती है। बुराई-रहित होते ही हम योग के अधिकारी हो जाते हैं। योग सामर्थ्य का प्रतीक है। यह सामर्थ्य हमको उस तत्त्व से साक्षात्कार कराती है, जिससे हमारी जातीय एकता है।

तत्त्व-साक्षात्कार होते ही हमारी पराधीनता मिटकर हमें स्वाधीनता प्राप्त होती है, यानी हमारे सभी बन्धनों को नष्ट कर यह योग-सामर्थ्य हमें मुक्ति का आनन्द दिलाती है। मुक्ति के बाद हमारी सहजगति उस साम्राज्य में होती है, जहाँ प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जहाँ प्रेमी प्रेम होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करने में समर्थ होता है।

प्रेम प्रेमास्पद का स्वभाव है और प्रेमी का जीवन है। इस जीवन में हर व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति में प्रेमास्पद का ही दर्शन होता है। विषमता समता में विलीन हो जाती है और इस सत्य का अनुभव होता है कि एक ही अनेक है; अर्थात् कोई और नहीं है। अपने प्रेमास्पद ही नाना रूपों में लीला कर रहे हैं। यह अनुभव ही मानव को सर्व-विकारों से रहित कर अभाव का अभाव कर पूर्णता प्रदान करता है।

अत: यदि हम सब जीवन के इस सत्य को अपनायें कि "कोई गैर नहीं है, कोई और नहीं है।" तो सफलता निश्चित है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

## (90)

**मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!**

यह जीवन का सत्य है कि जो कभी अलग होगा वह अब भी अलग है और जो कभी मिलेगा वह अब भी मिला हुआ है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति और अवस्था सदैव हमसे अलग हैं और प्रभु नित्य प्राप्त है। वह कभी अलग है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। क्यों? उसी की हम सब अभिव्यक्ति हैं। हमसे वह दूर नहीं है, केवल उससे विमुखता हो गई है। विमुखता की निवृत्ति एकमात्र मूक-सत्संग से होती है। मूक-सत्संग निर्मम, निष्काम और अचाह होने से सिद्ध होता है।

यह अनुभव कि मिली हुई वस्तु व्यक्तिगत नहीं है, मानव को निर्मम बना देता है। इस निज-अनुभव के अनादर से ही ममता उत्पन्न होती है। ममता के कारण ही शरीरादि वस्तओं से तादात्म्य होने पर कामनाओं का जन्म होता है। कामनाओं की पूर्ति और अपूर्ति ही मानव को सुख की दासता तथा दु:ख के भय में आबद्ध करती है।

दासता तथा भय किसी को भी अभीष्ट नहीं है, किन्तु प्रमादवश मानव अपने को भय, चिन्ता तथा नीरसता में आबद्ध कर लेता है। यही व्यक्तिगत जीवन की असफलता है। इस असफलता का अन्त हो सकता है। परन्तु इसके लिए प्रत्येक मानव को मिले हुए की ममता तथा देखे हुए की कामना का त्याग करना आवश्यक है।

मिले हुए का दुरुपयोग न करने से कर्त्तव्यपरायणता और मिले हुए की ममता के त्याग से असंगता स्वत: अभिव्यक्त होती है। उसके पश्चात् अचाह होने की सामर्थ्य आती है।

**ॐ आनन्द!**

**तुम्हारा अभेदस्वरूप**

**शरणानन्द**

## (91)

**मेरे निजस्वरूप!**

पराधीनता, नीरसता एवं अभाव में आबद्ध मानव सदैव सुख की दासता एवं दु:ख के भय में आबद्ध रहता है और ऊँच-नीच योनियों में भटकता रहता है। इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है, जब साधक वेदवाणी, गुरुवाणी अथवा भक्तवाणी आदि के द्वारा अनुत्पन्न हुए अविनाशी, स्वाधीन, रसस्वरूप प्रभु के अस्तित्व को स्वीकार करें।

प्रभु के अस्तित्व को स्वीकार करने पर फिर किसी और के अस्तित्व की अपने को अपने लिए अपेक्षा ही नहीं रहती। उसका परिणाम यह होता है कि चित्त सब ओर से स्वतः विमुख होकर अपने में जो अपने प्रेमास्पद हैं, उनमें लग जाता है।

जीवन-विज्ञान से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब तक चित्त प्रभु से भिन्न किसी और में लगता है, तब तक उसका अस्तित्व रहता है और वह स्वभाव से ही स्थिर नहीं होता, अर्थात् मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता और हृदय में निर्भयता की अभिव्यक्ति नहीं होती और उसके बिना साधक शान्ति, मुक्ति एवं भक्ति का अधिकारी नहीं होता।

इस दृष्टि से चित्त का सब ओर से विमुख होकर जो अपने में अपना जीवन है उससे अभिन्न होना अनिवार्य है। इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए आस्थावान साधकों ने सर्वसमर्थ प्रभु के अस्तित्व, महत्त्व और अपनत्व को स्वीकार किया।

मानव जिसके अस्तित्व को स्वीकार करता है, उसका उसमें चिन्तन स्वतः होने लगता है। अतएव जिसके चिन्तन से अपने को मुक्त होना है, उसके अस्तित्व को ही स्वीकार मत करो। केवल प्रतीति एवं प्रवृत्ति के आधार पर उसके अस्तित्व को स्वीकार करना भारी भूल है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**
**शरणानन्द**

## (92)

**मेरे निजस्वरूप!**

सच्ची असमर्थता जीवन का वरदान है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है कि सर्व-समर्थ असमर्थ को मिलते हैं, अपना लेते हैं और अपना अमूल्य प्रेम प्रदान करते हैं। पर यह रहस्य उन्हीं साधकों को स्पष्ट होता है, जिन्होंने अपने द्वारा अपनी असमर्थता का अनुभव किया है।

अब विचार यह करना है कि असमर्थता क्या है? पराश्रय और परिश्रम के आधार पर अपने को सन्तोष देना बड़ी भारी असमर्थता है।

इसी असमर्थता ने जो अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं और सर्व-समर्थ हैं, उनमें अविचल आस्था नहीं होने दी।

विचार उस पर किया जा सकता है, जो बुद्धि की सीमा में हो, सीमित हो, परिवर्तशील हो और अभावरूप हो। पर जो सदैव है, अनन्त है और असीम है, उस पर विचार नहीं किया जा सकता। वह तो आस्था का विषय है।

आस्था का स्वतन्त्र पथ है। उस पथ पर वे ही साधक चल पाते हैं, जो असमर्थता से पीड़ित हैं। अपनी असमर्थता का अनुभव मानव का सर्वोत्कृष्ट अनुभव है।

मिली हुई सामर्थ्य का सुदपयोग करने पर आवश्यक सामर्थ्य बिना माँगे ही मिलती रहती है। सामर्थ्य का सदुपयोग ही विश्व-शान्ति का मूल मन्त्र है।

सामर्थ्य का सदुपयोग तभी सम्भव है, जब यह मान लिया जाए कि मिला हुआ अपना नहीं है और अपने लिए नहीं है। सामर्थ्य भी सर्व-समर्थ की देन है। अत: उसके सदुपयोग में अभिमान के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

जो सभी के अपने हैं वे ही सर्व-समर्थ हैं। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग उसी सर्व-समर्थ के नाते उसकी विश्व-वाटिका की सेवा में करना है। ऐसी सेवा वही कर सकता है, जो वाटिका के फलों की आशा ही नहीं करता।

मानव जीवन में जो करने की बात है वह ज्ञान के अनुरूप ही होना चाहिए। ज्ञान-विरोधी कार्य तो अकर्त्तव्य ही है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य मानव को जन्मजात प्राप्त है। पर मानव अपनी भूल से कर्त्तव्य से विमुख होकर अकर्त्तव्य में प्रवृत्त हो जाता है।

मानव ने मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग कर अपने को अनुपयोगी बना लिया है। साथ ही वह स्वयं पराधीन होकर अनेक प्रकार की बेबसी अनुभव करता है। यद्यपि स्वभाव से ही उसे स्वाधीनता प्रिय है।

मानव जगत् के प्रति उदार, अपने लिए स्वाधीन तथा प्रभु के लिए प्रेमी होने की आवश्यकता अनुभव करता है। पर भूल से आसक्ति में आबद्ध होकर वह उदारता, स्वाधीनता और प्रेम से वंचित हो गया।

जिन्होंने मानव का निर्माण किया है, वे अपने दुलारे मानव को निरन्तर देखते रहते हैं और प्रतीक्षा करते रहते हैं कि मेरा दुलारा असमर्थता अनुभव करे और मैं उसे अपना लूँ! असमर्थता का अनुभव होने पर साधक को जो वेदना होती है, वह करुणामय से सही नहीं जाती है।

**ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (93)

**साधक महानुभाव!**

सत्य की लालसा किसी अभ्यास से जाग्रत नहीं होती। वह तो पाने का लालच और करने की रुचि का त्याग तथा गलत करना छोड़ने से अपने आप जाग्रत होती है। इस पर यदि कोई कहे कि ये सब कैसे छूटें? तो कहना होगा कि पहले हमें पाने का लालच छोड़ना होगा। फिर करने की रुचि और गलत करना अपने आप छूट जाएगा, कारण, जो कुछ भी नहीं चाहता वह गलत किसलिए करेगा? और जो गलत नहीं करेगा उसका करने का राग भी मिट जावेगा और उसको विश्राम भी मिलेगा। फिर सत्य की लालसा जाग्रत होगी।

सही करने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और पाने के लालच तथा करने की रुचि के त्याग की योग्यता भी आ जाती है। जब तक हम गलत करते रहेंगे, तब तक न तो हमारा राग ही मिटेगा और न हम करने-पाने के चक्र से मुक्त होंगे। इसलिए पहले सही करना सीखो और उसका भी फल मत चाहो। चाह-रहित होने पर मनुष्य को योग की सिद्धि मिलती है; यानी शान्ति की प्राप्ति होती है।

ममता, कामना और तादात्म्य के त्याग का नाम ही संन्यास है। कपड़े रँगना और किसी सम्प्रदाय-विशेष में दीक्षा लेना तो संन्यास का बाहरी चिह्न है। केवल बाह्य-चिह्न धारण करने से किसी की मुक्ति नहीं होती।

करना-पाना छोड़ने पर ही बोध का उदय एवं मुक्ति की प्राप्ति होती है; और प्रभु को अपना मानकर उनके शरणागत होने से प्रेम की प्राप्ति होती है। सही करना, कुछ न चाहना और प्रभु के शरणागत होना-यह योग, बोध, प्रेम की तैयारी है और इसी से योग-बोध, प्रेम की प्राप्ति होती है।

जगत् से सम्बन्ध टूटकर उस अनन्त के साथ अहं का सम्बन्ध जुड़ जाने का नाम ही योग है। इसी से सब संकल्पों की निवृत्ति होती है। और उस अनन्त को सब जगह सबमें देखना ही बोध है। योग से दोष और कामनाओं का त्याग होता है और उस अनन्त को अपना मानना एवं अहं को उनके समर्पित करना ही प्रेम है, यानी प्रेम की प्राप्ति होती है। केवल गृहत्याग करने एवं वस्त्र रंगने मात्र से किसी को योग-बोध-प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह त्याग त्याग नहीं वरन् त्याग के भेष में अपने कर्त्तव्य से पलायन करना है। जैसा कि 'रामायण' में गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है-

नारि मुई घर सम्पत्ति नासी।
मूड़ मूड़ाय भये संन्यासी।।

कई भाई सती-साध्वी पत्नी और छोटे-छोटे अबोध बालकों को निराश्रित छोड़कर घर-बार का त्याग कर जाते हैं। पूछने पर कहते हैं, उनका पालन तथा रक्षा भगवान् करेंगे।

एक दृष्टि से तो बात ठीक है कि सब जीवों का पालन और रक्षा तो भगवान् ही करते हैं; परन्तु तुम तो अपने कर्त्तव्य से च्युत हो गए! तुम्हारे ऊपर आश्रित उन प्राणियों के प्रति भी तुम्हारा कुछ कर्त्तव्य था-इस बात का तुमने विचार नहीं किया।

यदि यही बात थी तो घर क्यों बसाया था? यदि तुम उनकी ममता को त्यागकर घर में ही साथ रहते, उनको सदाचार और ईमानदार बनाते, उनको सही करना सिखाते। रक्षा तो तब भी उनकी भगवान् ही करते और तुम्हारा कर्त्तव्य भी पूरा हो जाता। जब वह समर्थ हो जाते, तब उनसे अलग रहकर अपना भजन करते। तुमने तो भगवान् पर विश्वास किया, उनको साथ रखना झंझट समझकर अपने आराम से सुखपूर्वक रहने के लिए उनको छोड़ दिया। किन्तु अपने आराम और सुख को न छोड़ा। अब जब भजन में मन नहीं लगता तो कहते हैं, क्या बतायें, हमने तो सब कुछ का त्याग कर दिया। परन्तु सच्ची शान्ति नहीं मिली।

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (94)

**साधक महानुभाव!**

अपनी ही भूल से अपनी बरबादी होती है, यह सर्वमाय सत्य है। सिद्धान्त रूप से कोई भी 'गैर' नहीं है, 'और' नहीं है। किसी न-किसी नाते सभी अपने हैं और सभी में अपने प्रेमास्पद हैं। इस सत्य को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। जहाँ कहीं जो कुछ बुराई दिखाई देती है, उसका कारण केवल अपनी ही भूल है। भूल का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अपने सत्य को अपने द्वारा न मानना ही अपनी भूल है।

यदि जीवन में भूल न होती तो हृदय में स्वभाव से सतत प्रीति की गंगा लहराती और जीवन आनन्द-विभोर हो जाता, यह वैधानिक तथ्य है। प्रीति किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं होती, अपितु सभी में जो सभी के अपने हैं, उन्हीं में प्रीति होती है। वे ही प्रीति के अधिकारी हैं।

बुराई-रहित होना सत्संग से साध्य है और भला हो जाना दैवी विधान है। भलाई सीखी नहीं जाती, सिखाई नहीं जाती। बुराई-रहित होने से भलाई स्वत: अभिव्यक्त होती है। बुराई-रहित होने से भलाई व्यापक होती है।

शान्ति-सम्पादन से अहं शुद्ध होता है और फिर स्वत: साधक में उसकी बनावट के अनुसार साधना फलने-फूलने लगती है। इस दृष्टि से समर्पणपूर्वक शान्त रहना बहुत ही आवश्यक है।

अपनी बुराई देखने का ज्ञान अपने में है, पर असावधानी के कारण उसका उपयोग हम दूसरों की बुराई देखने में करते रहते हैं जिसका बहुत बड़ा भाग अपनी कल्पना ही होती है, वास्तविक नहीं। वास्तविक बुराई का ज्ञान तो अपने सम्बन्ध में ही सम्भव है और उसी से साधक सदा के लिए बुराई-रहित होकर सभी के लिए उपयोगी हो जाता है।

जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय, यही मानव की वास्तविक माँग है। इस माँग की पूर्ति अवश्य होती है। अचाह हुए बिना जीवन उपयोगी हो नहीं सकता। अचाह होने की स्वाधीनता अपने को प्राप्त है। अचाह होना ही जीवन में मृत्यु का अनुभव करना है। जीवन में मृत्यु का अनुभव होने पर अविनाशी, स्वाधीन जीवन की प्राप्ति होती है।

अचाह होने के लिए बल का सदुपयोग, ज्ञान का आदर एवं आस्था-श्रद्धा-विश्वास में निर्विकल्पता अनिवार्य है। बल के सदुपयोग में प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग निहित है और ज्ञान के आदर में अवस्थातीत जीवन की प्राप्ति है और विकल्प-रहित विश्वास से आत्मीय सम्बन्ध, अखण्ड स्मृति तथा अगाधप्रियता की प्राप्ति होती है। परिस्थिति का सदुपयोग धर्म-विज्ञान है। अवस्थातीत जीवन में ही तत्त्वज्ञान है एवं प्रियता से ही जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

सत्य को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। सत्य को स्वीकार करने पर सफलता अवश्यम्भावी है। इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!**

अकिंचन-

शरणानन्द

## (95)

**मेरे निजस्वरूप!**

जब भगवान् हमारे हैं और हमारे भीतर ही हैं तो फिर चिन्ता कैसी? शोक कैसा? वह सर्व-समर्थ हैं, उनकी महिमा का वारपार नहीं, तो फिर भय कैसा? उनकी सत्ता से कोई बाहर नहीं, आँखों से कोई ओझल नहीं, तो फिर पश्चात्ताप कैसा? इन बातों को अपने जीवन में उतार लेने वाले मनुष्य के आनन्द की कोई सीमा नहीं रहती।

यदि भगवान् को ही पसन्द कर लें, तो हममें उनका प्यार पैदा हो जायेगा, उनकी याद आने लगेगी और मन भी लग जायेगा। यदि हम उन्हीं के नाते सब काम करें, तो विस्मृति कभी न होगी।

भगवान् प्यारे लगें, उनकी याद बनी रहे, मन लग जावे, इसी का नाम भजन है। यही तो भक्ति है। परहित का भाव हो, सबके साथ सद्‌भावना हो-यही तो सेवा है। कुछ नहीं चाहना ही तो त्याग है। भगवान् के समर्पण हो जाना ही तो प्रेम है। इसी का नाम सच्चा भजन है। अपने स्थान पर ठीक बने रहें, तो सभी धर्मात्मा हैं।

काम छोटा-बड़ा कोई नहीं है। अपने वर्णाश्रम के अनुसार सही बना रहे-यही धर्म है। विचारपूर्वक सबसे असंग रहना ही सच्चा वेदान्त है। श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान् की शरण ग्रहण करना ही वैष्णवता है। इन बातों के जीवन में आ जाने पर सभी का कल्याण हो जाता है। केवल कथन से तथा क्रिया-मात्र से कभी किसी का कल्याण नहीं हो सकता।

**आपका**

**शरणानन्द**

## (96)

**साधक महानुभाव!**

देखो! मायिक पदार्थ और ऐहिक सुख, यह सब नाशवान हैं। इनमें ममता-आसक्ति करना तथा इनकी कामना-यह मनुष्य की भूल ही है। कारण, वियोग तो एक दिन होगा ही।

अगर इनमें ममता-आसक्ति होगी, तो इनके वियोग-काल में दु:ख भी होगा ही, इसीलिए इनको दु:खस्वरूप भी कहा है। अत: इन नाशवान और दु:खरूप पदार्थों के लिए अपना परलोक बिगाड़ लेना बड़ी भारी भूल है।

देखो! एक गरीब किसान सुबह से शाम तक कितना परिश्रम करता है। उसकी स्त्री भी कितना परिश्रम करती है। पर बाल-बच्चों में ममता और आसक्ति होने के कारण बड़ा भारी परिश्रम करके भी उनको अन्न-वस्त्र भली प्रकार नहीं मिलता, और लड़का-लड़की का विवाह करके तो कर्जदार भी हो जाते हैं।

यदि वही दम्पत्ति इस झूठे मोह को छोड़कर ब्रह्मचर्य से रहें और शुद्ध कमाई करके अपना निर्वाह करें और बचा हुआ सेवा के कार्यों में लगाते रहें, तो उनको इस लोक में बड़ाई और सुख मिले और परलोक भी नहीं बिगड़े।

यदि सेवा-भाव से दूसरों के काम आवें और भगवान् का भजन करें तब तो उनका कल्याण ही हो जाये। परन्तु इन ऐहिक सुख और पदार्थों में आसक्ति हो जाने के कारण अपना लोक और परलोक दोनों बिगाड़ लेते हैं। यह है, मोह की महिमा!

इसी तरह सभी मनुष्य नाशवान भोग-सुखों के पीछे अपने जीवन और जन्म को बिगाड़ रहे हैं। यह सब मोह की महिमा ही है। अतएव कल्याणभावी साधकों को इन भोग-सुखों को और इनकी ममता-आसक्ति-कामना को त्यागकर अपना भजन-साधन करना चाहिए। इसी में मनुष्य की बुद्धिमानी है।

बहुत-सा धन इकट्ठा कर लेना, ऊँचा पद प्राप्त कर लेना, बहुत-सी भोग-सामग्री का संग्रह कर लेना सच्ची बुद्धिमानी नहीं है। वह लोगों की दृष्टि में बड़ा बुद्धिमान होकर तथा बुद्धिमान कहाकर भी महामूर्ख ही है।

सच्चा बुद्धिमान तो वही है जिसने भोग-सुखों की ममता आसक्ति को त्यागकर भगवान् में आत्मीयता करके उनके शरणागत होकर अपना लोक और परलोक बना लिया एवं अपना कल्याण कर लिया।

भोगों की आसक्ति को त्यागकर भगवान् की शरण ग्रहण करो-यही सब शास्त्रों का सार है और यही कल्याण का सच्चा मार्ग है। इसी में मनुष्य जन्म की सफलता तथा सार्थकता है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**
**शरणानन्द**

**मेरे निजस्वरूप!**

मनुष्य का जन्म मिलना जीव के किसी कर्म का फल नहीं है। वह तो प्रभु की अहैतुकी कृपा से जीव के कल्याण के लिए ही मिलता है। जब चौरासी लक्ष योनियों में भटकता-भटकता जीव महान दु:खी हो जाता है, तब बिना कारण ही कृपा करने वाले प्रभु जीव के कल्याण के लिए मनुष्य जन्म देते हैं।

जैसे भगवान् का अवतार कर्म-भोग के लिए नहीं होता, जीवों के कल्याण के लिए ही होता है, वैसे ही यह मनुष्य-जन्म भी जीव को भोग भोगने के लिए नहीं मिलता, जीव के अपने कल्याण के लिए ही मिलता है।

यदि यह जीव उन प्रभु की अहैतुकी कृपा का सदुपयोग नहीं करके दुरुपयोग करता है, तो उसको फिर से दूसरी बार मनुष्य जन्म मिलना बहुत कठिन है। मनुष्य जन्म पाकर भी भोगों में भटकने वाला प्राणी अयोग्य माना जाता है और अयोग्य को वस्तु बार-बार नहीं मिलती। अतएव इस मनुष्य जन्म को पाकर तो अपने कल्याण के लिए ही साधन करना चाहिए।

यदि इस पर कोई कहे कि कलिकाल में कल्याण होना तो कठिन है। तो इसका उत्तर यह है कि जो वस्तु जिस काम के लिए होती है, उसके लिए वह काम कठिन नहीं होता। यह मनुष्य जन्म केवल जीव के कल्याण के लिए ही मिलता है। इसलिए इसको पाकर कल्याण की प्राप्ति को कठिन मानना भारी भूल है।

देखो! साधन करने वाले मनुष्य का कल्याण इसी जन्म में बड़ी सुगमतापूर्वक हो सकता है। यह बात परम सत्य है। क्योंकि यह मानव प्रभु का दुलारा है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

## (98)

**मेरे निजस्वरूप!**

मनुष्य-जन्म का असली उद्देश्य है, कल्याण की प्राप्ति। दुर्लभ मानव-जीवन प्राप्त कर यदि हम कल्याण की प्राप्ति न कर सके, तो कितने ही धनवान, कितने ही बलवान, कितने ही विद्वान और कितने ही उच्च पद-प्रतिष्ठा से सम्मानित क्यों न हो जायें, वास्तविक कल्याण से वंचित रहते हुए ये सब बातें बिल्कुल व्यर्थ ही हैं।

जिस कल्याण की इतनी महिमा है उसकी प्राप्ति में मनुष्य-मात्र सर्वथा स्वतन्त्र है, क्योंकि प्रभु ने कल्याण-प्राप्ति की सामर्थ्य मनुष्य-मात्र को प्रदान की है। यदि कोई प्रश्न करे कि कल्याण साधन का उपाय क्या है, तो उत्तर में कहना होगा कि मनुष्य का कल्याण इन चार बातों पर आधारित है—

(1) धर्म-निष्ठ होने पर।

(2) योगी होने पर।

(3) ज्ञानी होने पर।

(4) भक्त होने पर।

विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि धर्म-निष्ठ होने के लिए निर्दोषता प्राप्त करना नितान्त अनिवार्य है। दोष-निवृत्त होते ही हम सब धर्म-निष्ठ हो जाते हैं। इसी प्रकार निष्कामता प्राप्त होते ही समत्वरूप योग और चित्तवृत्ति-निरोध रूप योग स्वतः ही सिद्ध हो जाता है और असंगता-पूर्वक अपने में ही सन्तुष्ट होने पर सभी ज्ञान-प्राप्ति के अधिकारी हो जाते हैं। प्रभु में आत्मीयता स्थापित करके शरणागत होने पर सभी भक्त हो सकते हैं। यह परम सत्य है।

अब विचार कीजिये कि निर्दोष, निष्काम तथा असंग होने और प्रभु को अपना मानने में कठिनाई नहीं है। इसीलिए मानव को कल्याण-प्राप्ति में सर्वथा स्वाधीन बताया गया है।

'मेरा कुछ भी नहीं है'-ऐसा दृढ़ विश्वास करते ही निर्दोषता की प्राप्ति हो जाती है। कारण, कि ममता ही सब दोषों की जननी है। अतः निर्मम होने पर सहज ही सभी निर्दोषता के अधिकारी हो जाते हैं।

'मेरा कुछ नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिए' इस निश्चय पर पहुँचते ही हम सहज ही निष्काम हो जाते हैं।

"मेरा किसी से कुछ भी सम्बन्ध नहीं", ऐसा मानने से सभी असंग हो सकते हैं। "केवल प्रभु ही अपने हैं", अपने द्वारा ऐसा मानने से प्रभु के प्रति आत्मीयता की प्राप्ति होती है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

**मेरे निजस्वरूप!**

सामर्थ्य का सदुपयोग सेवा में है और सेवा का फल सेव्य को अपना मानने में है। अपना मानने से ही अपने में 'स्मृति' जाग्रत होती है। स्मृति से भिन्न अपना कुछ अस्तित्व ही न रह जाय, यही साधक का परम पुरुषार्थ है। प्रभु-विश्वासी को अपने लिए प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध से भिन्न कुछ भी अभीष्ट नहीं है।

बड़े ही आश्चर्य तथा दुःख की बात है कि हम सामर्थ्य अपने लिए पसन्द करते हैं, सेवा के लिए नहीं। उसी का यह परिणाम होता है कि हम प्रभु से विमुख होकर वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता में अपने को आबद्ध कर लेते हैं।

यह भली-भाँति अनुभव करो कि अपने बन्धन का कारण अपनी भूल ही है। भूल का नाश भूल के ज्ञान से होता है। भूल का ज्ञान सत्संग से और सत्संग शान्ति के सम्पादन से सम्भव है। इस दृष्टि से सेवा कार्य के आदि और अन्त में साधक को सर्वदा शान्ति में ही रहना चाहिए।

शान्ति प्रेमास्पद का महल है, जिसका दरवाजा आत्मीय सम्बन्ध से जाग्रत अखण्ड स्मृति से ही खुलता है, किसी अन्य प्रयोग से नहीं। यह शरणागत साधक का अनुभव है।

बल की माँग भोगी के जीवन में होती है और ज्ञान की माँग जिज्ञासु के जीवन में। किन्तु प्रेमियों के जीवन में तो एकमात्र अगाधप्रियता की ही माँग रहती है। प्रेमीजन बल के द्वारा प्रेमास्पद की नगरी की सेवा करते हैं। उन्हें अपने लिए कभी भी किसी प्रकार का बल नहीं चाहिए। कारण कि प्रेमियों को जो चाहिए, उसकी उपलब्धि बल से नहीं होती।

ज्ञान से सृष्टि का प्रभाव नाश होता है और आस्था, श्रद्धा, विश्वास से प्यारे प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्थापित होता है। 'प्रभु-विश्वास' किसी प्रभु-विश्वासी के वाक्य में अवचिल आस्था करने से ही सम्भव है। सर्व-समर्थ प्रभु साधकों को सत्संग के द्वारा साधननिष्ठ बनायें, इसी सद्भावना के साथ, सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

**मेरे निजस्वरूप!**

नापसन्द करने से नाशवान् की विस्मृति होगी-यह साधन हुआ; और पसन्द करने से अविनाशी की स्मृति जगेगी, लालसा जगेगी-यह भजन हो गया। विचारकों ने कहा-गलत मत करो और श्रद्धालुओं ने कह दिया-सही करो। जो गलत नहीं करता वह मुक्त हो जाता है और जो सही करता है वह भक्त है। जो गलत नहीं करता वह किसी को बुरा नहीं लगता और जो सही करता है वह सबको प्यारा लगता है।

गलत नहीं करने में मनुष्य-मात्र स्वाधीन है; इसमें अन्य व्यक्ति तथा वस्तु की जरूरत नहीं होती। इसीलिए मुक्त होने में तो सभी स्वाधीन हैं। परन्तु सही करने में किसी सबल का सहारा लेना पड़ता है, और सबल तो एक प्रभु ही हैं।

इसलिए भक्त होने के लिए भगवान् का सहारा लेना पड़ता ही है। परन्तु दोष और कामनाओं का त्याग तो दोनों को ही करना पड़ेगा। क्योंकि जब तक दोष और कामनायें रहेंगी, तक तक तो गलत ही करेगा। गलत करने वाला न तो मुक्त ही हो सकता है और न भक्त ही।

जो 'स्व' में सन्तुष्ट हो जाता है उसमें उदारता और प्रेम की स्वत: अभिव्यक्ति हो जाती है। कारण, जब वह पराश्रय-युक्त अपने पूर्व जीवन को देखता है, तब दूसरों को भी पराश्रय से दु:खी देखकर करुणित हो उठता है और जब 'स्व' में सन्तुष्ट अपने वर्तमान जीवन को देखता है तो हमारा कोई रचयिता भी है-इस बात की याद आते ही उसके हृदय में प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है।

अतएव गलत मत करो और ठीक करने का फल मत चाहो, अभिमान मत करो और प्रभु का आश्रय ग्रहण करो।

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानन्द

(101)

**बम्बई अस्पताल,**

7-12-59,

**समय-रात्रि 2 बजे**

आस्था, श्रद्धा, विश्वास से युक्त शरणागत, शरणानन्द से अभिन्न होता है। निश्चिन्तता, निर्भयता एवं आत्मीयता शरणागत का सहज स्वभाव है। उसे शरीर विशेष में आबद्ध करके देखना भूल है। अब यदि कोई यह कहे कि जिस व्यक्तित्व के द्वारा प्रकाश मिला है उसे कैसे भूला जा सकता है? गम्भीरता से विचार करो, व्यक्तित्व में जीवन-बुद्धि अन्धकार है, प्रकाश नहीं। प्रकाश में तो साधक अपने ही व्यक्तित्व को सदा के लिये खो बैठता है। तो फिर किसी अन्य के व्यक्तित्व की बात ही क्या है। इस पर भी यदि अपने व्यक्तित्व को गलाने के लिये किसी व्यक्तित्व में श्रद्धा, विश्वास आवश्यक है, तो मानव-सेवा-संघ उसी विचार-धारा का प्रतीक है, जो प्रियजनों को निरन्तर नाश होने वाले व्यक्तित्व से मिला था। जिस प्रकार अर्थ को सुरक्षित रखने के लिये भाषा अपेक्षित होती है, उसी प्रकार किसी विचार-धारा को सुरक्षित रखने के लिये किसी-न-किसी प्रतीक की आवश्यकता होती है। मानव-सेवा-संघ उसी विचारधारा का प्रतीक है, जिसका शरणानन्द। इस दृष्टि से संघ की सेवा ही शरणानन्द की सेवा है। सत्संग-योजना को चरितार्थ बनाकर संघ की विचारधारा को प्रत्येक भाई-बहन के कानों तक पहुँचाया जा सकता है। संघ ने मानव-मात्र को अपनी आँखों देखो और अपने पैरों चलो-की प्रेरणा दी है। प्रत्येक साधक स्वाधीनतापूर्वक अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्न हो सकता है; क्योंकि उससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। पराधीनता को सहन करते रहना साधक का अपना प्रमाद है। जिसका शीघ्रातिशीघ्र अन्त करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब साधक अपने जाने हुए असत् का त्याग करे। संयोग-वियोग विधान के अधीन हैं। संयोग परस्पर में स्नेह तथा सेवा के लिये प्राप्त होता है और वियोग नित्य योग का पाठ पढ़ाता है। इसी कारण विवेकीजन संयोग में ही वियोग का अनुभव कर नित्य योग से अभिन्न हो जाते हैं। नित्य योग से एकता मानव-मात्र का जन्मजात अधिकार है। जिस प्रकार संयोग सुरक्षित रखने में कोई भी समर्थ नहीं है, उसी प्रकार नित्ययोग से अभिन्न होने में कोई भी असमर्थ नहीं है। जिसकी प्राप्ति सर्वदा सम्भव है उससे निराश होना और जिसको सुरक्षित रखना सम्भव ही नहीं है

उसकी आशा करना ही वास्तविक प्रमाद है। लगभग एक वर्ष पूर्व कार्यक्रम न बनाने की प्रेरणा मिली थी, किन्तु उसकी ओर पूरा ध्यान न दिया गया। उसी का यह परिणाम है कि बना हुआ कार्यक्रम पूरा नहीं हो सका, पर उसका आन्तरिक दु:ख नहीं है। कारण-कि कार्यक्रम केवल अपनी ही ओर से नहीं बना था, परिस्थितिवश बना था-अब यदि शरीर रहेगा तो कार्यक्रम न बनाने की जो प्रेरणा है उस पर पूरा-पूरा प्रयास किया जायेगा। उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं-इस समय जो अकस्मात् परिस्थिति आई है उसकी सम्भावना नहीं थी। पर यह भी परिस्थिति सदैव नहीं रहेगी, यह निर्विवाद सत्य है। अत: प्रत्येक साधक उत्साहपूर्वक पूरी शक्ति लगाकर प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा अपने प्रेमास्पद की पूजा करते हुये उसी की प्रीति हो जाये। प्रीति से अभिन्न होने में ही जीवन की पूर्णता है। कारण, कि प्रीति स्वभाव से ही दिव्य-चिन्मय तथा अनन्त रस की प्रतीक है। इस रोगावस्था में जो भाव उत्पन्न हुआ, सेवा में प्रकट कर दिया। सभी साधकों के प्रति सद्भावना तथा बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

**साधक महानुभाव!**

सावधानी में सर्वतोमुखी विकास तथा जीवन है। इस महामंत्र को अपनाना प्रत्येक सजग मानव के लिये अनिवार्य है। किसी भी व्रत को पूरा करने के लिये तप, प्रायश्चित्त तथा प्रार्थना अनिवार्य है। आप महानुभाव बड़े ही भाग्यशाली हैं, जिन्होंने मानव-हितकारी मानव-सेवा-संघ की आजीवन सेवा स्वीकार की है। सेवापरायण मानव का जीवन ही प्राकृतिक तथा दैवी विधान के अनुरूप हो जाता है; कारण कि विधान और जीवन में एकता है। वह विधान नहीं है, जिसके अपना लेने पर अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप जीवन की प्राप्ति न हो। स्वाधीनता प्राप्त करने की स्वाधीनता मानव को जन्मजात प्राप्त है। मानव अपनी ही भूल से पराधीन होकर सभी के लिए अनुपयोगी हो गया है। शान्तिपूर्वक अपनी ओर देखने से अपनी भूल का अनुभव हो सकता है और भूल-रहित न होने की वेदना मानव को सदा के लिए भूल-रहित कर देती है, यह वैधानिक तथ्य है। वर्तमान की वेदना ही भविष्य की उपलब्धि होती है। लक्ष्य से निराश न होने पर स्वत: वेदना की उत्पत्ति होती है। वेदना वह तत्त्व है, जो व्यथित को सदा के लिये व्यथारहित कर देती है। आप सजग मानव हैं। आपको आपने व्रत को पूरा करने के लिए बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों को सहर्ष सहन करना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा, जब आप मानव-जीवन के महत्त्व को अपनायेंगे। मानव-जीवन में निराश होने तथा हार स्वीकार करने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। की हुई भूल न दोहराना ही वास्तविक प्रायश्चित्त है और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नित-नव उत्साह तथा परम व्याकुलता ही प्रार्थना है। केवल माँग को जगाना है, वह अपनी पूर्ति में आप समर्थ है।

अपनी सेवा और मानव की सेवा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ज्यों-ज्यों मानव अपने को अपने लिए उपयोगी बनाता जाता है, त्यों-त्यों वह संघ के लिए उपयोगी होता जाता है। मानव-सेवा-संघ ने हमें प्रेरणा दी है कि अपने लिए उपयोगी हुए बिना कोई मानव-सेवा-संघ की सेवा कर ही नहीं सकता और न वह जगत् तथा जगत्पति के काम आ सकता है। संघ की सर्वोत्कृष्ट सेवा यही है कि अचाह होकर प्राप्त बल का सदुपयोग किया जाय। मानव-जीवन में बल के दुरुपयोग के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

पदलोलुपता, अधिकार-लालसा की जीव में गंध भी न रह जाय, जीवन उदारता तथा प्रेम से भरपूर हो जाय; यह माँग सतत् अपने समक्ष रखनी है।

आजीवन कार्यकर्त्ता को त्याग को अपनाकर उसकी फलासक्ति से और प्रेम को अपनाकर प्रेमी होने के भास से रहित हो जाना है।

यह तभी सम्भव होगा, जब यह अनुभव किया जाय कि बल अपने लिए नहीं है, अपितु 'पर' के लिए है। ज्ञान अपने लिए है और प्रेम प्रभु के लिए है। इस सत्य से जीवन को अभिन्न करना है। भूतकाल की भूल से भयभीत होकर निराश न हो जावें, अपितु वर्तमान निर्दोषता के आधार पर अभय हो जावें। जो भयरहित हो जाता है, उससे किसी को भय नहीं होता। वह सभी का अपना हो जाता है और सभी उसके अपने हो जाते हैं। अर्थात् मानव-सेवा-संघी का विश्व और विश्वनाथ से अविभाज्य सम्बन्ध है और सेवा, त्याग, प्रेम उसका सहज स्वभाव है, जो सभी को अभीष्ट है।

यह भली-भाँति अनुभव करो कि अल्प सामर्थ्य से विकास में कोई बाधा नहीं होती; अपितु पवित्र भाव से प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग से सभी का सर्वतोमुखी विकास होता है। यह कैसा अनुपम अलौकिक विधान है! अब आप महानुभावों को यह मान ही लेना चाहिए कि अपने लिए उपयोगी होकर सभी के लिए उपयोगी होने का दायित्व पूरा करना है। जो अपनी आप सहायता करता है, उसके लिए जगत् और जगत्पति दोनों ही अनुकूल हो जाते हैं। इस वास्तविकता में आस्था करो और लक्ष्य पर दृढ़ रहो- सफलता अवश्यम्भावी है।

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-शरणानन्द**

**साधक महानुभाव!**

पराश्रय में आस्था रखने से कभी किसी को स्वाधीनता नहीं मिलती और स्वाधीनता के बिना स्वभाव से जीवन में उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती, यह विधान है। पराश्रय का त्याग तभी हो सकता है, जब साधक यह स्वीकार करे कि सदैव, सर्वत्र, अद्वितीय, अनुपम, अलौकिक जीवन है, यद्यपि उसकी माँग मानव-मात्र में विद्यमान है। यदि ऐसा न होता तो उसकी माँग ही न होती। परन्तु अपने में अपना जीवन होने पर भी साधक उससे अपनी ही भूल से विमुख हो जाता है। इस विमुखता को मिटाने के लिए सर्वप्रथम प्रेमियों को प्रेमास्पद की, जिज्ञासुओं को तत्त्व-ज्ञान की, योगियों को परम तत्त्व की सत्ता को गुरुवाणी, वेदवाणी, भक्तवाणी आदि किसी भी प्रकार से स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि किसी कारण ऐसा सम्भव न हो तो अपनी वास्तविक माँग के आधार पर भी यह विकल्प-रहित विश्वास किया जा सकता है कि स्थायी माँग उसी की होती है जिसका अस्तित्व है। इसी वास्तविकता को स्वीकार कराने के लिए मानव के रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मानव-मात्र में आस्था का तत्त्व प्रदान किया है। आस्था का सर्वोत्कृष्ट सदुपयोग यही है कि वह अपने द्वारा अपने लिए अनन्त के अस्तित्व को स्वीकार करे और जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उससे विचारपूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग हो जाय। यह मानव-मात्र का अनुभव है कि प्रत्येक मानव में ज्ञान तथा आस्था का तत्त्व मौजूद है और जिसके द्वारा हम सब कुछ कर सकते हैं, उसका बल तो प्राणीमात्र में है।

केवल ज्ञान और आस्था के कारण ही मानव-जीवन में विलक्षणता है। इसका उपयोग एकमात्र सत्य को स्वीकार करने में ही है। यही मानव-जीवन का परम-पुरुषार्थ है। यदि कह दिया जाय कि इसी पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव-जीवन मिला है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। बड़ी ही आश्चर्य की बात तो यह है कि जिसे मानव जब चाहे तब कर सकता है, उसी को नहीं करता और जो वास्तव में नहीं करना चाहिए, उसी को कर बैठता है, जो नहीं कर सकता उसी को करने को सोचता रहता है। इसी भूल से मानव की अनमोल घड़ियाँ व्यर्थ बीत जाती हैं। मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में साधक-समाज को यह परामर्श दिया गया कि जो नहीं कर सकते, उसे करने की मत सोचो और जो कर सकते हो, जो करना चाहिए, उसे शीघ्र पूरा कर अपने को करने के राग से मुक्त कर लो। करने का राग मिटते ही देह-देही

विभाजन हो जाता है और फिर साधक अपने में ही अपने साध्य को पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि साधक को क्या नहीं करना चाहिए? स्पष्ट है कि उत्पन्न हुई, परिवर्तनशील शरीरादि वस्तुओं से ममता का त्याग अर्थात् यह अनुभव करो कि मिला हुआ शरीर मेरा नहीं है। यह अनुभव अपने ज्ञान से अपने द्वारा अपने लिए करना होगा कि शरीर मेरे लिए नहीं है। इस वास्तविकता में अविचल दृढ़ता होनी चाहिए। ज्यों-ज्यों साधक इस सत्य को स्वीकार करेगा, त्यों-त्यों उसमें स्वत: निर्विकारता की अभिव्यक्ति होगी। निर्विकारता दैवी सम्पत्ति है। उसमें आकर्षण है। वह सभी को प्यारी लगती है। सभी उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। जिसे निर्विकारता प्राप्त हो जाती है, उसके जीवन में दृश्य का आकर्षण नहीं रहता और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने में सन्तुष्ट हो जाता है।

जीवन अपने में है, जीवन-धन अपने हैं, अपने में हैं। उन्हीं को पसन्द करना—यही अध्यात्म-जीवन है। जो अपने हैं, उन्हीं को अपना मानना आस्तिक जीवन है। जिन्होंने अपने ही में अपने को सन्तुष्ट किया, वे वर्तमान में ही अमरत्व से अभिन्न हो गये। जिन्होंने, जो सदैव अपने हैं, उन्हीं को स्वीकार किया, वे अखंड स्मृति और अगाधप्रियता पाकर कृतकृत्य हो गये। इस दृष्टि से जो अपना नहीं है, उसे अपना मत मानो और न उसका दुरुपयोग करो। उसका परिणाम यह होगा कि मिले हुए बल का स्वत: सदुपयोग होने लगेगा। बल का सदुपयोग कर्त्तव्य-विज्ञान तथा भौतिकवाद है। इससे साधक की भौतिक उन्नति होती है और सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक योग का अधिकारी हो जाता है। कारण, कि कर्त्तव्य-विज्ञान का उत्तर पक्ष योग है। इसी वास्तविकता को बतलाने के लिए धर्म की महिमा कही गई है। धर्मात्मा बड़ी ही सुगमतापूर्वक संसार के चिन्तन से छूट जाता है। इतना ही नहीं, संसार धर्मात्मा की सदैव आवश्यकता अनुभव करता है। संसार जिसकी आवश्यकता अनुभव करे और जो संसार की आवश्यकता का अनुभव न करे, उससे बढ़कर भौतिक उन्नति और क्या हो सकती है? जिन कर्त्तव्यनिष्ठ साधकों ने दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते हुए अपने अधिकारों का त्याग किया, वे बड़ी सुगमतापूर्वक योग-युक्त हो गये और फिर उन्हें अपने ही में अपना अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप जीवन प्राप्त हो गया। यह कर्त्तव्यनिष्ठ साधकों का अनुभव है।

जो देखने में नहीं आता, उसी में अविचल आस्था करनी है। आस्था से देखे हुए का सम्बन्ध बड़ी ही सुगमतापूर्वक मिट सकता है और फिर साधक

दृश्य के प्रभाव से मुक्त हो जाता है जिसके होते ही चिरशान्ति, जीवन-मुक्ति स्वतः प्राप्त होती है। यह सजग साधक के जीवन का सत्य है। इसमें विकल्प करना भूल है। शान्ति, मुक्ति स्वतः भक्ति से अभिन्न हो जाती है। शान्ति संसार के लिए, मुक्ति अपने लिए और भक्ति भगवान् के लिए उपयोगी होती है, जो एकमात्र सत्य को स्वीकार करने से प्रत्येक मानव को मिल सकती है। शान्ति, मुक्ति, भक्ति के अतिरिक्त और कोई ऐसा तत्त्व नहीं है, जो सभी को सदा के लिए मिल सके। यदि यह कह दिया जाय कि इससे भिन्न और कुछ प्राप्त हो ही नहीं सकता, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी; अपितु यही जीवन की वास्तविकता है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को वास्तविकता में अविचल आस्था प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

**ॐ आनन्द!**

**अकिंचन-**

**शरणानन्द**

# प्रार्थना

मेरे नाथ!
आप अपनी
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
मानवमात्र को,
विवेक का आदर,
तथा
बल का सदुपयोग,
करने की सामर्थ्य
प्रदान करें,
एवं
हे करुणासागर!
अपनी अपार करुणा से,
शीघ्र ही,
राग-द्वेष का,
नाश करें;
सभी का जीवन,
सेवा, त्याग, प्रेम से
परिपूर्ण हो जाय।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!! ॐ आनन्द !!!

# संत उद्बोधन

ॐ

## सन्त हृदय की करुण पुकार

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।